हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर सीरीज नं० ८ ।

# स्वदेश ।

बंगसाहित्यसम्राट् श्रीयुक्त बाबू रवीन्द्रनाथ
ठाकुरके चुने हुए निबन्धोंका
हिन्दी अनुवाद ।

---

अनुवादक—
श्रीयुत बाबू महावीर प्रसादजी गहमरी ।

प्रकाशक—
हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

---

मार्गशीर्ष १९७१.

प्रथमावृत्ति ] नवम्बर १९१४. [ मूल्य दश आने ।

Printed by G. N. Kalkarni at the Karnatak Printing
Press No. 7, Girgaon Back Road Bombay,
and
Published by Nathuram Premi, Proprietor Hindi Grautha-
Ratnakar Karyalaya, Hirabaug, Bombay.

पाठक महाशय, स्वदेशका हिन्दी अनुवाद आपकी सेवामें उपस्थित है। भारतमाताके ख्यातनामा सुपुत्र कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरके इस ग्रन्थके विषयमें कुछ कहनेका हमें अधिकार नहीं–यह ग्रन्थ ही आपको अपने महत्त्वकी साक्षी देगा। हम केवल इसके अनुवादके विषयमें यह निवेदन कर देना चाहते है कि इसे सब प्रकारसे शुद्ध, सरल और भावव्यञ्जक बनवानेके लिए हमने अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया है और हमारा विश्वास है कि रवीन्द्रबाबूके गभीर विचारपूर्ण ग्रन्थोंके अनुवाद करानेमें जो कठिनाइयाँ हैं उनका सामना करनेमें हमें जो सफलता प्राप्त हुई है उसे आप लोग भी आदरकी दृष्टिसे देखेंगे।

हम देखना चाहते हैं कि हिन्दी–संसार ऐसे ग्रन्थोंका कहा तक आदर करता है। यदि हिन्दीहितैषी सज्जनोंने हमारे उत्साहको बढाया तो हम रवीन्द्रबाबूके अन्यान्य गभीर ग्रन्थोंके अनुवाद भी शीघ्र तैयार करानेका प्रयत्न करेंगे।

—प्रकाशक।

# सूची।

# स्वदेश ।

## नया और पुराना ।

हम पुराने भारतवर्षके लोग हैं; बहुत ही प्राचीन और बहुत ही थके हुए हैं। मैं बहुधा अपनेमें ही अपनी इस जातीय भारी प्राचीनताका अनुभव किया करता हूँ। मन लगाकर जब अपने भीतर नजर डालता हूँ तब देखता हूँ कि वहाँ केवल चिन्ता, विश्राम और वैराग्य है। मानों हमारी भीतरी और बाहरी शक्तियोंने एक लम्बी छुट्टी ले रक्खी है। मानों जगत्के प्रातःकालहीमें हम लोग दफ्तरका कामकाज कर आये हैं, इसीसे इस दोपहरकी कड़ी धूपमें, जब कि और सब लोग कामकाजमें लगे हुए हैं हम दर्वाजा बंद करके निश्चिन्त हो विश्राम या आराम कर रहे हैं; हमने अपनी पूरी तलब चुका ली है और पेंशन पा गये हैं। बस, अब उसी पेंशन पर गुजारा कर रहे हैं। मजेमें हैं।

इतनेहीमें एकाएक देख पड़ा कि हालत बदल गई है। बहुत दिनोंसे ब्रह्मोत्तरमें मिली हुई मजीन इस समय नये राजाकी अमलदारीमें ठीक दलील-पट्टा न दिखा सकनेके कारण जब्त हो गई है। अचानक हम गरीब हो गये हैं। और सब किसान जैसे मेहनत मजदूरी कर करके मरते

और मालगुजारी अदा करते हैं वैसे ही, वही, हमको भी करना होगा। पुरानी जातिको अब अचानक नई चेष्टा करनेके लिए विवश होना पड़ा है।

इसी लिए अपनी चिन्ता रहने दो, विश्रामसे उठो, घरका कोना छोड़ो। अब केवल व्याकरण, न्यायशास्त्र, श्रुति, स्मृति, और गृहस्थीके नित्य और नैमित्तिक कामोंको ही लिये पड़े रहनेसे काम नहीं चलेगा; कड़े मिट्टीके ढेले फोड़ो, धरतीको उपजाऊ बनाओ और नये राजाको कर (टैक्स) दो; कालेजोंमें पढ़ो, होटलोंमें खाओ और आफिसोंमें नौकरी करो।

हाय! भारतवर्षकी चहारदीवारीको तोड़कर इस खुले हुए काम-काजके मैदानमें हम लोगोंको लाकर किसने खड़ा कर दिया! हम लोगोंने चारों ओर मानसिक 'बाँध' बाँधकर कालस्रोतको बन्द कर दिया था और अपनी इच्छाके अनुसार अपना सब कुछ समेटे हुए लिये बैठे थे। भारतवर्षके बाहर चंचल परिवर्तन समुद्रकी तरह दिन रात गरजता था, पर हम लोग अटल स्थिरतामें स्थित रहकर गतिशील सारे संसारके अस्तित्वको भी भूले हुए बैठे थे। इसी समय न-जाने किस छिद्रसे चिर-अशान्त मानवस्रोत हम लोगोंमें घुस आया और उसने हमारा सब कुछ नष्टभ्रष्ट कर दिया। उसने पुरानेमें नया मिला दिया, विश्वासमें संशय डाल दिया और सन्तोषमें दुराशाका आक्षेप पटक दिया—इस प्रकार सब ही कुछ उलटपुलट डाला!

मान लो कि हमारे भारतके चारों ओर हिमालय और समुद्रकी रुकावट और भी दुर्गम होती, तो यहाँके लोग एक अज्ञात एकान्त घेरेमें स्थिर शान्त भावसे एक प्रकारकी संकुचित परिपूर्णता प्राप्त करनेका अवसर पाते। वे संसारकी खबर कुछ विशेष न जान पाते और

भूगोलके सम्बन्धमें उनकी धारणा अधूरी रहती; केवल उनके काव्य, उनके समाजतन्त्र, उनके धर्मशास्त्र, उनके दर्शनशास्त्र एक अपूर्व शोभा-सुषमा और सम्पूर्णताको प्राप्त करते; वे मानों पृथ्वीको छोड़कर और किसी छोटे ग्रहमें निवास करते; उनका इतिहास, उनके ज्ञानविज्ञान और उनकी सुखसम्पदा उन्हींमें परिपूर्ण रहती। जैसे समुद्रका एक अंश धीरे धीरे चारों ओर मिट्टीकी तह जम जानेसे घिरकर एक एकान्त शान्तिमय सुन्दर सरोवर बन जाता है; और वह तरंगरहित रह कर सुबहशामके विचित्र रंगोंकी छटासे जगमगाया करता है—अँधेरी रातके झलकते हुए स्थिर नक्षत्रोंके प्रकाशमें चुपचाप चिर-रहस्यकी चिन्तामें डूबा रहता है वही हाल यहाँका होता।

यह सच है कि कालके प्रबल प्रवाहमें, परिवर्तनकोलाहलके केन्द्रमें, प्रकृति (Nature) की हजारों शक्तियोंके रणकी रंगभूमिके बीच क्षोभको प्राप्त होने—इधर उधर टक्करें खानेसे एक प्रकारकी खूब कड़ी शिक्षा और सभ्यता प्राप्त होती है; किन्तु यही कैसे कहा जा सकता है कि निर्जनता, निस्तब्धता और गंभीरतामें उतरनेसे कोई रत्न हाथ नहीं लगता।

इस आन्दोलन-पूर्ण संसार-सागरमें ऐसी निस्तब्धताका अवसर कोई जाति नहीं पा सकी। जहाँ तक मैं समझता हूँ, केवल भारतने ही एक समय दैवसंयोगसे वह विच्छिन्नता प्राप्त कर—सबसे अलग हो कर संसार-सागरमें गोता लगाया था और वही उसकी तह तक पहुँचा था। जैसे जगत असीम है वैसे ही मनुष्यका आत्मा भी असीम है; अतएव जिन्होंने उस अप्रकट भीतरी भाग या देशका मार्ग खोज निकाला था उन्होंने कोई नया सत्य या कोई नया आनन्द नहीं प्राप्त किया; यह कहना अत्यन्त अविश्वासकी बात है

भारतवर्ष उस समय एक ऐसी परीक्षा-शालाके समान था जिसका दर्वाजा बन्द हो और जो निर्जन तथा रहस्य-मय हो। उसके भीतर एक परम सुन्दर सभ्यताकी गुप्त रूपसे परीक्षा हो रही थी। यूरोपके मध्ययुगमें जैसे अल्कामी-तत्त्वकी खोज करनेवाले लोगोंने गुप्त-गृहके भीतर बंद रहकर तरह तरहके यन्त्रों और तन्त्रोंके द्वारा चिरजीवन-रस (Elixir of Life) का आविष्कार करनेकी चेष्टा की थी वैसे हमारे देशके ज्ञानी पण्डितोंने गुप्त रूपसे सावधानताके साथ आध्यात्मिक चिरजीवन पानेका उपाय ढूँढ़ा था। उन्होंने प्रश्न किया था कि—"**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्**" (जिसमें मैं अमर नहीं हो सकता उसे लेकर मैं क्या करूँ?) और अत्यन्त कष्टसाध्य उपायसे अपनेही हृदयमें उस अमृतरसकी खोज करना आरम्भ किया था।

उनकी उस खोजसे क्या होता, इस बातको कौन जाने! 'अल्कामी' से 'केमिस्ट्री' की उत्पत्ति हुई है वैसे ही उनकी उस तपस्यासे मनुष्यकी कौन सी एक निगूढ़ नूतन शक्तिका आविष्कार होता सो अब कौन कह सकता है!

किन्तु एकाएक उसी खोजके समय दर्वाजा तोड़कर बाहरके उद्यमी लोग भारतवर्षकी उस पवित्र परीक्षा-शालामें जबर्दस्ती घुस आये और उस खोजका नतीजा सर्वसाधारणके निकट अप्रकाशित ही रह गया। नहीं कहा जा सकता कि आजकलकी नई अपार सभ्यतामें उस परीक्षाके लिए वैसा प्रशान्त अवसर कभी फिर मिलेगा या नहीं।

पृथ्वीके और लोगोंने उस परीक्षाशालामें प्रवेश करके क्या देखा? देखा, एक बूढ़ा तपस्वी बैठा है; कपड़े नहीं हैं, आभूषण नहीं हैं, पृथ्वीके इतिहासकी विशेष अभिज्ञता नहीं है। वह जो कुछ कहना

चाहता है उसकी कोई प्रतीति करानेवाली भाषा नहीं है, प्रत्यक्ष करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है और समझमें आने योग्य कोई परिणाम या नतीजा नहीं है।

यह देखकर वे कहने लगे कि हे वृद्ध, हे चिन्तातुर, हे उदासीन, तुम उठो, पोलिटिकल ऐजिटेशन अर्थात् राजनैतिक आन्दोलन करो; अथवा दिनकी नींदमें पड़े पड़े अपने पुराने, जवानीके, प्रतापकी घोषणा करते हुए शिथिल—पुरानी हड्डियोंके बल पर बलफो—खम ठोको। देखो, उससे तुम्हारी लज्जा निवृत्त होती है कि नहीं।

किन्तु मुझे बाहरी लोगोंके इस उपदेश पर श्रद्धा या प्रवृत्ति नहीं होती। केवल अखबारोंकी पाल चढ़ाकर दुस्तर संसारसागरमें यात्रा आरम्भ करनेका मुझे साहस नहीं होता। यह सच है कि जब धीमी और अनुकूल हवा चलती है तब यह खबरके कागजोंकी पाल गर्वसे फूल उठती है, किन्तु जब कभी समुद्रमें तूफान आवेगा तब यह दुर्बल दम्भ सैकड़ों जगहसे फटकर बेकाम हो जायगा।

यदि पास ही कहीं उन्नति नामक पक्का बन्दरगाह होता और वहाँ पर किसी तरह पहुँचते ही 'दही—पेड़ा दीयतां और भुज्यतां' की बात होती तो चाहे अवसर सोचकर, आकाशका रंगढंग देखकर, अत्यन्त चतुरता और सावधानीके साथ एकबार पार होनेकी चेष्टा की भी जाती। किन्तु जब यह जानते हैं कि इस उन्नतिके मार्गमें यात्राका अन्त नहीं है; कहीं पर नाव बाँध नींद लेनेका स्थान नहीं है; ऊपर केवल ध्रुवतारा चमक रहा है और सामने केवल अन्तहीन समुद्रकी जलराशि है; हवा प्रायः प्रतिकूल ही चला करती है और लहरें सदा भारी वेगसे उठा करती हैं, तब बैठे बैठे केवल फूलसकेप कागजकी नाव तैयार करनेको जी नहीं चाहता।

तथापि इस सागरमें नाव चलानेकी इच्छा होती है। जब देखता हूँ कि मनुष्य-प्रवाह चला जा रहा है; चारों ओर विचित्र कल्लोल, प्रचण्ड वेग, प्रबल गति और विश्राम-रहित कर्मकी छटा दिखाई पड़ रही है तब मेरा भी मन नाच उठता है; तब जी चाहता है कि बहुत वर्षोंके गृहबन्धनको तोड़ताड़कर एकदम बाहर निकल पड़ूँ। किन्तु उसके बाद ही अपनेको खाली-हाथ देखकर सोचता हूँ कि राह खर्च कहाँ है! हृदयमें वह असीम आशा, जीवनमें वह न थकनेवाला बल, और विश्वासका वह अटल प्रभाव कहाँ है! तब तो पृथ्वीके एक कोनेमें यह हमारा अज्ञात-वास ही भला है, यह स्वल्प सन्तोष और निर्जीव शान्ति ही हमारे लिए गनीमत है।

तब बैठे बैठे मनको यही कहकर समझाता हूँ कि हम यद्यपि यन्त्र (कलें) नहीं तैयार कर सकते, जगत्‌के गूढ़ तत्त्वोंका आविष्कार नहीं कर सकते, किन्तु प्रेम कर सकते हैं, क्षमा कर सकते हैं, एक दूसरेके लिए, अपनी जगह छोड़कर, जगह दे सकते हैं। फिर दुःसाध्य निराशासे अस्थिर होकर भटकते फिरनेकी क्या जरूरत है! बुराई क्या है, हम एक किनारे ही पड़े रहेंगे। टाइम्सके जगत्प्रकाशक कालमोंमें हमारा नाम न छपेगा, न सही।

किन्तु प्रश्न यह होता है कि जब दुःख है, दारिद्य है, प्रबलका अत्याचार है, असहायके भाग्यमें अपमान है, तब केवल एक किनारे बैठे बैठे घरका काम और अतिथि-सत्कार करते रहनेसे कैसे काम चलेगा? इन दुःखोंका प्रतिकार कैसे होगा?

हाय, यही तो भारतवर्षको असह्य दुःख है! हम किससे लड़ेंगे? रूढ़ मनुष्यप्रकृतिकी चिरकालकी निठुराईके साथ? ईसामसीहका पवित्र रक्त-प्रवाह भी जिसकी निकम्मी कठिनताको आजतक कोमल

न बना सका उस पत्थरके साथ ? प्रबलता हमेशासे निर्बलके प्रति दयाहीन रही है; हम उसी आदिम पशु-प्रकृतिको कैसे जीतेंगे ? सभायें करके ? या प्रार्थना करके ? आज ज़रासी भीख पाकर और कल एक गहरी डाँट खाकर ? नहीं, यह तो कभी न होगा।

तब फिर कैसे जीतेंगे ? प्रबलके बराबर सबल होकर ? हाँ, यह हो सकता है। किन्तु जब विचार करके देखता हूँ कि यूरोप कितना प्रबल है और किन किन कारणोंसे प्रबल है; जब इस दुर्दम्य शक्तिको कभी शरीर और मनसे, सम्पूर्ण रूपसे, अनुभव करके देखता हूँ तब फिर आशा नहीं होती। जीमें आता है कि आओ भाई, सहनशील होकर रहें—सबको प्यार करें—नेकी करें। हम पृथ्वी पर जो कुछ काम करें उसे सचाईके साथ करें, ढोंग न करें। क्योंकि असमर्थके लिए मुख्य विपत्ति यही है कि वह कोई भारी काम नहीं कर पाता, इसी कारण भारी ढोंगको अच्छा समझता है। वह नहीं जानता कि मनुष्यत्व प्राप्त करनेके लिए भारी झूठकी अपेक्षा छोटा सत्य अधिक मूल्यवान् है—अधिक कामकी चीज है।

मैं उपदेश देने नहीं बैठा हूँ। मैं केवल यही देखनेकी चेष्टा करता हूँ कि हमारी असली हालत क्या है। किन्तु उसे देखनेके लिए न तो प्राचीन वेद, पुराण, संहिता आदि खोलकर उनमेंसे मनमाने—अपने मतलबके श्लोक एकत्र करके किसी एक कल्पना-मय कालकी सृष्टि करनी होगी, और न अन्य जातिकी प्रकृति और इतिहासके साथ अपनी कल्पना मिलाकर, अपनेको उसीमें लीन करके, इस नवीन शिक्षाकी कमजोर नीव पर भारी दुराशाका किला खड़ा करनेकी जरू-रत है। हमको केवल यही देखना होगा कि हम कहाँ पर हैं। हम जहाँ पर स्थित हैं वहाँ पर पूर्वदिशासे भूतकालकी और पश्चिमदिशासे

भविष्यत्की मरीचिकायें आकर हमको अपनी अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। इन दोनोंको भरोसा करने योग्य 'सत्य' न जानकर एक बार हमें यह देखना चाहिए कि हम वास्तवमें किस मिट्टी पर खड़े हुए हैं।

हम एक बहुत ही जीर्ण और प्राचीन नगरमें निवास करते हैं। इतना पुराना नगर है कि उसका इतिहास लुप्तप्राय हो गया है; मनुष्योंके हस्तलिखित सब स्मृतिचिह्न काईसे ढक गये हैं। इसीसे भ्रम होता है कि मानों यह नगर मनुष्योंके इतिहाससे परे है—यह मानों अनादि 'प्रकृति'की पुरानी राजधानी है। मनुष्योंके इतिहासकी रेखा मिटाकर प्रकृतिने अपने श्यामवर्णके अक्षर इसके सब अंगोंमें विचित्र आकारसे सजा रक्खे हैं। यहाँ हजारों वर्षकी वर्षा-ऋतुएँ अपने आँसुओंके चिह्नकी रेखा रख गई हैं और हजारों वर्षकी वसन्त-ऋतुएँ इसकी दीवारकी हरएक दरारमें अपने आनेजानेकी मिती हरे रंगके अङ्कोंमें अङ्कित कर गई हैं। एक ओरसे इसे नगर कह सकते हैं तो दूसरी ओरसे इसे जंगल भी कह सकते हैं। यहाँ केवल छाया और विश्राम, चिन्ता और विषाद रह सकते हैं। यहाँ झींगुरोंकी झनकारसे गूँजते हुए जंगलोंमें—यहाँ विचित्र आकारवाली जटाओंसे व्याप्त शाखा-प्रशाखाओं और रहस्यमय पुराने महलोंकी दीवारोंमें सैकड़ों हजारों छायाओंमें कायाका और कायाओंमें मायाका भ्रम होता है। यहाँकी इस सनातन महती छायामें सत्य और कल्पनाने भाई और बहनकी तरह विरोध-रहित भावसे आश्रय पाया है। अर्थात् यहाँ प्रकृतिके विश्वकार्य्य और मनुष्यकी मानसिक सृष्टि, दोनोंने परस्पर हिलमिलकर अनेक आकारके छायाकुंजोंकी रचना की है। यहाँ लड़की—लड़के दिनभर खेला करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि यह खेल है। ऐसे ही सयाने लोग रातदिन स्वप्न देखते हैं; पर

उसे स्वप्न न समझकर 'कर्म' समझते हैं। जगत्के मध्याह्न-सूर्यका प्रकाश छिद्र-मार्गसे प्रवेश करके केवल छोटी छोटी मणियोंकी तरह झलकता दिखाई देता है और प्रबल आँधी सैकड़ों तंग डालियोंके बीचमें टकराकर मन्द मर्मर-ध्वनिसी जान पड़ती है। यहाँ जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, आशा और निराशाकी सीमाके चिह्न मिटसे गये हैं; अदृष्टवाद और कर्मकाण्ड—वैराग्य और गृहस्थाश्रम एक ही साथ चल रहे हैं। यहाँ आवश्यक और अनावश्यकने ब्रह्म और मिट्टीके पुतलेने, छिन्नमूल सूखे हुए भूतकाल और जिसमें नई कोंपलें निकल रही हैं ऐसे सजीव वर्तमान-कालने समान आदर पाया है। शास्त्र जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा हुआ है। जिस जगह शास्त्रको ढककर हजारों प्रथा-रूप कीड़ोंने अपना घर बना लिया है वहाँ पर भी कोई आलस्य-मयी भक्तिके मारे हाथ नहीं डालता—सफाई नहीं करता। यहाँ ग्रन्थोंके अक्षर और उन ग्रन्थोंमें लगे हुए कीड़ोंके छेद, दोनोंही समान सम्मानके शास्त्र हैं। यहाँके पीपलके पेड़ोंसे दरार खाये हुए और टूटे फूटे पड़े हुए मन्दिरोंमें देवता और उपदेवता, दोनों ही एकत्र आश्रयको प्राप्त होकर विराजमान हैं।

यह क्या तुम्हारे सांसारिक समरकी छावनी डालनेकी जगह है! यहाँकी गिरी हुई दीवार क्या तुम्हारे कल-कारखानोंके--तुम्हारे आगकी साँस लेनेवाले सहस्त्रबाहु लौह-दानवोंके कारागार बनानेके योग्य है। यह सच है कि अस्थिर उद्योगके वेगसे तुम इसकी पुरानी ईंटोंको मिट्टीमें मिला दे सकते हो; किन्तु यह तो बताओ कि फिर पृथ्वीकी यह अत्यन्त प्राचीन शय्याशायिनी ( बिछौनों पर पड़ी रहने-वाली) जाति कहाँ जाकर खड़ी होगी ? याद रक्खो, ज्यों ही यह चेष्टाहीन नगररूपी घना जंगल नष्ट होगा त्यों ही एक बूढ़ा ब्रह्मराक्षस, जो यहाँ

सदाके सूनसान स्थानमें हजारों वर्षोंसे एकान्तवास कर रहा है, एका-एक आश्रयहीन हो जायगा !

यहाँके लोगोंने बहुत दिनोंसे अपने हाथों गृह-निम्माण नहीं किया; वह अभ्यास इनको नहीं है और इनमेंके बहुतेरे अधिक विचारशील लोगोंको यही एक बड़ा गर्व है । वे लोग जो इस बातको लेकर पुच्छ-लेखनी फटकारते हैं सो बिलकुल ठीक है—उसका प्रतिवाद किसीसे नहीं हो सकता। सचमुच ही इन लोगोंको अपने अत्यन्त प्राचीन आदि-पुरुषोंकी बस्ती कभी छोड़नी नहीं पड़ी। समयके फेरसे यद्यपि अनेक ऊँची नीची अवस्थाओंका सामना करना पड़ा है, अनेक नये सुभीते और अड़चनें आकर उपस्थित हुई हैं; किन्तु इन्होंने सबको खींच-खाँचकर, मृत और जीवितको, सुभीतों और अड़चनोंको, जी-जानसे एकत्र कर अपने बाप-दादाओंकी बनाई हुई उसी एक ही दीवा-रमें चुन रक्खा है । इस प्रकारकी बात कभी, इनके शत्रुपक्षके लोगोंके मुँहसे भी नहीं सुनी जाती कि उन्होंने कभी अड़चनमें पड़कर भी, अपने सुभीतेके लिए, औरोंसे लागडाँट करके अपने हाथसे कोई नया घर बनाया या पुराने घरकी मरम्मत, अर्थात् संस्कार किया है। घरकी छतमें जहाँ छिद्र दिखाई पड़ा है वहाँ आपसे आप उगे हुए बरगदके पेड़की शाखाने कभी छाया कर दी है और कभी धीरे धीरे जमी हुई मिट्टीकी तहने उस छिद्रको थोड़ा बहुत बंद कर दिया है; लेकिन इन्होंने कभी उधर ध्यान नहीं दिया।

इस वनलक्ष्मीसे शून्य घने वनमें, इस पुर-लक्ष्मीसे सूनी टूटी-फूटी पुरीमें हम धोती पहन कर चादर ओढ़कर बहुत ही धीरे धीरे टहलते हैं, भोजनके बाद जरा सो लेते हैं, छाँहमें बैठकर गंजीफा—चौसर खेलते हैं। जो कुछ असंभव और संसारी कामकाजके बाहर

हैं उस पर झटपट विश्वास कर लेना हमें पसंद है। जो कुछ कामके लायक और आँखके सामने है उसके प्रति हमारे मनका अविश्वास किसी प्रकार अच्छी तरहसे दूर नहीं होता। और इसके ऊपर अगर कोई लड़का जरा भी चञ्चलता प्रकट करता है तो हम सब मिलकर सिर हिला हिला कर कहते हैं—सर्वमत्यन्तगर्हितम् ।

इसी समय तुम लोग एकाएक न-जाने कहाँसे आकर कूद पड़े और हमारे जीर्ण अस्थिपञ्जरमें जोरसे दो तीन खोंचे मारकर कहते हो कि " उठो, उठो; तुम्हारे सोनेके कमरेमें हम आफिस ( office ) खोलना चाहते हैं। तुम सोते थे; किन्तु सारा संसार नहीं सोता था। इस बीचमें, जगत्में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। सुनो, वह घंटी बज रही है; यह पृथ्वीकी दुपहरिया है—काम करनेका समय है।"

तुम्हारे कथनको सुनकर हममेंसे कुछ लोग जल्दीसे उठकर " कहाँ काम है?—कहाँ काम है?" कहते हुए घरके चारों कोनोंमें व्यस्त भावसे दौड़धूप कर रहे हैं। और उनमेंसे जो जरा मोटेताजे और घमंडी हैं वे करवट बदल कर कहते हैं—" कौन है जी! कामकी बात कौन कहता है। तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि हमलोग कामकाजी आदमी नहीं है। तुम्हारा यह भारी भ्रम है! भारतवर्षको छोड़कर काम करनेका स्थान और कहीं नहीं है। देखते क्यों नहीं, मानव-इतिहासके प्रथम युगमें आर्यों और अनार्योंका युद्ध यहीं हो गया है; यहीं कितने ही राज्योंकी स्थापना, कितने ही नीतिधर्मोंका अभ्युदय और कितनी ही सभ्यताओंका संग्राम हो गया है। भाई, केवल हम लोग ही कामके आदमी हैं। अतएव हमसे अब काम करनेके लिए मत कहो। अगर तुमको विश्वास न हो तो तुम लोग बल्कि एक काम करो—अपने पैने ऐतिहासिक फावड़ेसे भारतभूमिकी अनेक युगसाञ्चित विस्मृतिकी तह

खोदकर देख लो कि मनुष्य-सभ्यताकी दीवारमें कहाँ कहाँ हम लोगोंके हाथोंका चिह्न है। हम लोग तबतक इसीतरह एक झपकी और ले लें।"

इसी तरह हम लोगोंमेंसे कोई कोई आधे अचेत जड़मूढ, दाम्भिक भावसे, जराजरा खुली नींद-भरी आँखोंसे, आलस्य-पूर्ण अस्पष्ट रुष्ट हुंकारसे, जगत्में जो दिनका प्रकाश फैला हुआ है उसका अनादर या उपेक्षा कर रहे हैं; और कोई कोई, गहरी आत्मग्लानिके साथ अपनी ढीली रगोंके चेष्टाहीन उद्यम–उत्साहको बारम्बार पीटकर जगानेकी चेष्टा कर रहे हैं। और जो लोग जाग्रत् अवस्थामें स्वप्न देखनेवाले हैं–जो लोग कर्म और विचारके बीचमें अस्थिर चित्तसे डगमगा रहे हैं–जो लोग पुरानेकी जीर्णता देख पाते हैं और नवीनकी असम्पूर्णताका भी अनुभव करते हैं, वे अभागे बारंबार सिर हिला-हिला कर कहते हैं:—

"हे नये आदमियो! तुमने जो नई काररवाई शुरू कर दी है उसकी समाप्ति तो अभीतक नहीं हुई; उसमें क्या सच है और क्या झूठ–इसका फैसला तो अभीतक नहीं हुआ; मनुष्यके भाग्यकी चिर-कालसे चली आती हुई समस्याओंमेंसे तो किसी एककी भी मीमांसा नहीं हुई। फिर हम अभी तुम्हारे अनुयायी कैसे बनें?

"तुमने बहुत कुछ जाना और बहुत कुछ पाया है, किन्तु यह तो बताओ कि कुछ सुख भी पाया है? हम जिस विश्व-ब्रह्माण्डको 'माया' माने बैठे हैं उसीको तुम निश्चित सत्य मान कर काममें जान दे रहे हो; तुम क्या हमसे अधिक सुखी हुए हो? तुम जो नित्य नई नई आवश्यकताओंका आविष्कार करके गरीबोंकी गरीबी दिन-दिन बढ़ा रहे हो, अपनेको घरके स्वास्थ्यजनक आश्रयसे विश्राम-शून्य कर्मकी उत्तेजनामें घसीटे लिये जा रहे हो, कर्म्मको ही सारे जीवनका कर्त्ता

बनाकर उन्माद ( बावलेपन या जोश ) को विश्रामके स्थानपर बिठा रहे हो, तो क्या तुम स्पष्टरूपसे यह जानते हो कि तुम्हारी यह उन्नति तुमको कहाँ लिये जा रही है?

" हम लोग अच्छी तरह जानते हैं कि हम कहाँ आ पहुँचे हैं। हम लोगोंकी जरूरतें बहुत ही थोड़ी हैं। हम अपने घरोंमें गाढ़े स्नेहसे परस्पर, एक दूसरेके साथ, मिले हुए अपने नित्य-नैमित्तिक छोटे-मोटे आवश्यक कर्तव्योंका पालन करते जाते हैं। हम लोगोंकी जितनी सुख-समृद्धि है उसको हम लोगोंने—अमीर और ग़रीब, निकट-सम्बन्धी और दूर-सम्बन्धी, अतिथि, अनुचर और भिक्षुक, सबने मिलकर बाँट लिया है। जहाँतक हो सकता है, हम लोग यथासम्भव सुखसे जीवन बिता रहे हैं। हम लोगोंमें कोई किसीको त्याग करना नहीं चाहता, और जीवनकी आँधीमें पड़कर, उसके झपेटेमें, कोई किसीको छोड़नेके लिए लाचार भी नहीं होता।

" भारतवर्षने सुख कभी नहीं चाहा; उसने सन्तोष चाहा था, वह उसे मिल भी गया है। भारतवर्ष, सब जगह सब तरह सन्तोष-की स्थापना भी कर चुका है। अब उसे कुछ करनेके लिए बाक़ी नहीं है। वह अपने विश्राम-भवनमें बैठे बैठे तुम लोगोंके उन्माद-पूर्ण जीवन-विप्लवको देखकर तुम्हारी सभ्यताकी अन्तिम सफलताके सम्बन्धमें मन-ही-मन संशयका अनुभव भले ही कर सकता है। वह सोच सकता है किसी समय अन्तको जब एक दिन तुम लोगोंको अपना कामकाज बंद करना होगा तब तुम लोग क्या इसी तरह धीरेसे, इसी तरह सहजमें ऐसे ही विश्रामको प्राप्त कर सकोगे? क्या हमारी तरह ऐसी सहृदय परिणति या पूर्णता पासकोगे? जिस तरह 'उद्देश्य' धीरे धीरे 'लक्ष्य' पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है, गरम दिन जिस तरह

सौन्दर्य्यपूर्ण होकर संध्याके अन्धकारमें डूब जाता है वैसी ही मधुर समाप्ति क्या तुम पा सकोगे? या, जैसे 'कल' एकाएक बिगड़ कर बंद हो जाती है, जैसे लगातार बढ़ती हुई आग और गरमी जमा होनेसे एकाएक एंजिन फट जाता है, जैसे एक ही लाइन पर आमने-सामनेसे आती हुई दो रेलगाड़ियाँ आपसकी टक्करसे अचानक चूर चूर हो जाती हैं उसी तरह प्रबल वेगमें एक दारुण अपघातसे तुम्हारी समाप्ति होगी?

"जो कुछ हो, तुम लोग इस समय एक अपरिचित समुद्रमें उसके अप्रकट किनारेकी खोजमें चले हो। इस लिए यही अच्छा होगा कि तुम अपनी राह जाओ और हम अपने घरमें रहें।"

किन्तु भाई भारत-वासियो, मनुष्य मनुष्यको इस तरह रहने कब देता है? तुम जिस समय विश्राम करना चाहते हो उस समय पृथ्वीके और लोग तो थके हुए नहीं हैं। गृहस्थ जिस समय नींदके मारे बेचैन हैं उस समय आवारा लोग तरह तरहके उपद्रव करते हुए राह राह मारे मारे फिरते हैं।

इसके सिवा यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुम पृथ्वीमें जहाँ आकर ठहरोगे वहींसे तुम्हारा ध्वंस होना आरम्भ हो जायगा। क्यों कि तुम्हीं अकेले ठहरोगे, और कोई नहीं ठहरेगा। यदि तुम जगत्प्रवाहके साथ समान गतिसे नहीं चल सकते तो सारे प्रवाहका दौड़ता हुआ वेग तुम पर आकर पड़ेगा; उसके धक्केसे तुम या तो टूटफूटकर उलट-पलट जाओगे, और या धीरे धीरे क्षयको प्राप्त होकर कालस्रोतकी तलहटीमें डूब जाओगे! इस कारण या तो लगातार चलो और जीवनकी चर्चा करो, और नहीं तो विश्राम करो और मिट जाओ। पृथ्वी परका ऐसा ही नियम है।

अतएव यह ठीक है कि हम जो संसारमें संहारके सामने आकर उपस्थित हुए हैं, इसके बारेमें किसीके कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु जब हम इसके सम्बन्धमें विलाप करते हैं तब यों करते हैं कि—"ऊपर जिस प्राकृतिक नियमका वर्णन किया गया है वह साधारणतः संसारमें चलता है सही, किन्तु हम लोगोंने उसीमें कुछ ऐसा सुभीता कर लिया था कि बहुत दिनोंतक वह नियम हम पर लागू नहीं हुआ। जैसे, साधारणतः यह कहा जाता है कि वृद्ध होना और मरना जगत्का नियम है; किन्तु हमारे योगी लोगोंने अपनी जीवनी शक्ति ( श्वासा ) को रोककर मुर्देकी तरह होकर जीवित रहनेका एक उपाय ढूँढ़ निकाला था। समाधिकी अवस्थामें जैसे उनकी वृद्धि नहीं होती थी वैसे ही क्षय भी नहीं होता था। जीवनकी गतिको रोकनेसे ही मृत्यु आती है, किन्तु जीवनकी गतिको रोककर ही वे लोग चिरजीवन पाते थे।

"हमारी जातिके सम्बन्धमें भी साधारणतः यही बात कही जा सकती है। अन्य जातियाँ जिस कारणसे मरती हैं, हमारी जातिने उसी कारणको उपाय बनाकर बहुत दिनोंतक जीते रहनेका मार्ग ढूँढ़ निकाला था। आकांक्षाका वेग जब कम हो जाता है, थका हुआ उद्यम जब ढीला पड़ जाता है तब कोई जाति नाशको प्राप्त होती है। किन्तु हम लोगोंने बड़े यत्नसे दुराकांक्षा या तृष्णाको कम करके और उद्यमको जड़सा बनाकर समान भावसे आयु-रक्षा करनेकी चेष्टा की थी।

"जान पड़ता है, वह चेष्टा कुछ कुछ सफल भी हुई थी। घड़ीकी सुई जहाँ पर आपसे आप ठहर जाती है, वहीं पर समयको भी अपूर्व कौशल-पूर्वक ठहरा दिया गया था। जीवनको पृथ्वीतलसे बहुत कुछ

अलग करके एक ऐसे मध्य आकाशमें उठा रक्खा गया था जहाँ पृथ्वीकी धूल अधिक नहीं पहुँचती थी; वह ( जीवन ) सदैव निर्लिप्त, निर्म्मल और निरापद रहता था।

"किन्तु एक दन्तकथा प्रचलित है कि कुछ दिन हुए कलकत्तेमें पासके किसी जंगलसे एक दीर्घजीवी समाधिस्थ योगी लाया गया था। वहाँ अनेक उपद्रव करके वह समाधिसे जगा दिया गया और उससे उसकी मृत्यु हो गई। हमारी जातीय योग-निद्राको भी उसी तरह बाहरके लोगोंने बहुत उपद्रव करके तोड़ दिया है। अब दूसरी जातियोंमें और हममें कुछ अन्तर नहीं है, यदि कुछ है तो यही कि बहुत दिनों तक बाहरी विषयोंमें उद्योग न करनेके कारण हमको जीवनकी चेष्टाका अभ्यास नहीं रहा है। हम योगाध्यायसे निकलकर एकदम गड़बड़ाध्यायमें आ पड़े हैं।"

ऐसी अवस्थामें अब कर्तव्य क्या है? इस समय पहलेके उस विलक्षण नियमसे काम नहीं चलनेका। अब तो जो साधारण नियम है उन्हींके अनुसार प्रचलित प्रथाओंसे आत्मरक्षाकी चेष्टा करनी होगी। लंबी जटा और नख कटवाकर, नियमित स्नान आहार करके कुछ कपड़े-लत्ते पहनकर हाथ-पैर चलाना होगा।

किन्तु इस समय मामला ऐसा ही आपड़ा है कि यद्यपि हमने जटा और नख कटवा डाले हैं और संसारमें प्रवेश करके समाजके लोगोंके साथ मिलनाजुलना भी शुरू कर दिया है, किन्तु मनके भावको अर्थात् स्वभावको हम अभीतक नहीं बदल सके। अब भी हम कहते हैं कि हमारे पूर्व-पुरुषोंने केवल हड़ें खाकर या नंगे बदन रहकर महत्त्व प्राप्त किया था। फिर हम सँवार-सिंगार, आहार-विहार और रहन-सहनका इतना आदर क्यों करें? यों कहकर हम लोग आधी धोती

ओढ़कर दर्वाजेके सामने बैठे बैठे कर्मके प्रति आलस्य और अनासक्तिसे भरी दृष्टि डालते हुए हवा खाया करते है।

हमको यह स्मरण नहीं है कि जो योगासन परम आदरणीय है वही समाजकी दृष्टिसे जंगलीपन है। प्राण न रहनेसे जैसे शरीर अपवित्र हो जाता है वैसे ही भावके बिना बाहरी अनुष्ठान भी निन्द्य हो जाया करते हैं। तात्पर्य यह कि जब हममें योगियोंके भाव नहीं है तब केवल दिखावा नहीं सोहता।

जो लोग हमारे तुम्हारे समान हैं; जो तपस्या भी नहीं करते और हविष्य भी नहीं खाते; जूता मोजा पहनकर, ट्रामगाड़ी पर चढ़कर पान चबाते चबाते प्रतिदिन आफिस या स्कूलको जाते हैं; जिनकी आदिसे अन्त तक खूब खोज खोजकर देखनेसे भी किसी प्रकार विश्वास नहीं होता कि ये याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, गौतम, जरत्कारु, वैशम्पायन या भगवान् कृष्ण-द्वैपायनके अवतार हैं; जिन छात्रोंको देखकर अबतक कभी किसीको बालखिल्य ऋषियोंका भ्रम नहीं हुआ; जो लोग एकदिन भी यदि सबेरे, दोपहर और शामको नहाकर एक हड़ खालें तो उसके बाद उन्हें दो एक दिन आफिस या कालेजमें गैरहाजिर होना परम आवश्यक हो पड़े; उनके लिए इसप्रकार ब्रह्मचर्य्यका बाहरी आडम्बर करना और पृथ्वीकी अधिकांश उद्योगी माननीय जातियोंको देखकर नाक सिकोड़ना केवल अद्भुत, असङ्गत, और हँसीकी बात ही नहीं है, किन्तु पूर्णरूपसे हानिकर भी है।

भिन्न भिन्न कामोंकी अलग अलग व्यवस्थायें हुआ करती हैं। पहलवान लँगोट पहनता है, बदनमें मिट्टी लगाता है और छाता उभार कर चलता है। यह देखकर रास्तेके लोग खुश होते हैं और वाहवाह करते हैं। परन्तु उस पहलवानका लड़का बहुत ही काहिल और कमजोर है और

केवल एन्ट्रेन्स तक पढ़कर आज पाँच वर्षसे सेक्रेटरियटके दफ्तरमें अप्रेंटिसी ( उम्मेदवारी ) कर रहा है। वहभी यदि लँगोट पहनकर मिट्टी मलकर उठते-बैठते ताल ठोके और भले आदमियोंके द्वारा उसका कारण पूछे जाने पर कहे कि मेरा बाप पहलवान है, इसीसे मैं भी ऐसा करता हूँ; तो यह देख-सुनकर ग़ैरोंको जो चाहे दिल्लगी सूझे, मगर उसके स्वजनों और हित-मित्रोंको उसके लिए विशेष चिन्ता हुए बिना न रहेगी। इसलिए या तो सचमुच तपस्या करो और नहीं तो तपस्याका आडम्बर छोड़ो।

पूर्वसमयमें ब्राह्मणोंका एक खास सम्प्रदाय था। उन पर एक विशेष कार्यका भार था। उन्होंने इसलिए कि वे उस कार्यमें विशेष उपयोगी बने रहें, अपने चारों ओर कुछ आचरण—अनुष्ठानोंकी एक सीमा-रेखा खींच रक्खी थी। वे लोग अत्यन्त सावधानताके साथ अपने चित्तको उस सीमाके भीतर ही रखते थे, बाहर नहीं जाने देते थे। प्रायः सभी कामोंकी ऐसी ही एक उपयोगी सीमा हुआ करती है, जो दूसरे कामके लिए बाधा-स्वरूप होती है। हलवाईकी दूकानमें यदि वकील अपना व्यवसाय चलाना चाहे तो हजारों तरहकी रुकावटें और विघ्न उपस्थित हुए बिना न रहेंगे। ऐसे ही जहाँ पहले किसी वकीलका आफिस रहा हो वहाँ यदि किसी विशेष कारण-वश हलवाई-की दूकान खोलना पड़े तो उस समय क्या कुरसी-टेबल, कागज-पत्र और अलमारियोंमें तहकी तह सजी हुई कानूनी रिपोर्टोंका मोह करनेसे काम चल सकता है? कभी नहीं।

इस समय ब्राह्मणोंमें वह पहलेकी विशेषता नहीं रही। वे केवल पढ़ने-पढ़ाने और धर्म-चर्चा करनेमें ही नहीं लगे हुए हैं। उनमेंसे अधि-कांश ब्राह्मण नौकरी करते हैं। तपस्या करते तो हम किसीको भी नहीं

देखते। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर अन्य जातियोंके काम-धन्धेमें कुछ अन्तर नहीं देख पड़ता। ऐसी अवस्थामें ब्राह्मणत्वके संकीर्ण घेरेमें बंद रहनेकी कोई सार्थकता या सुभीता नहीं दिखाई देता।

किन्तु इस समय यह हालत है कि ब्राह्मण-धर्मने केवल ब्राह्मणोंको ही नहीं बाँध रक्खा है। जिन शूद्रोंके लिए शास्त्रका बन्धन कभी दृढ़ नहीं था, वे भी मौका पाकर उसी घेरेमें घुस बैठे हैं। अब वे किसी तरह उस जगहको छोड़ना नहीं चाहते।

पहले समयमें ब्राह्मणोंने केवल ज्ञान और धर्मका अधिकार ग्रहण कर रक्खा था। ऐसी दशामें समाजके अनेक छोटे-मोटे कामोंका भार शूद्रों पर आ-पड़ना स्वाभाविक ही था*। इसी कारण उन शूद्रोंके ऊपरसे आचार-विचार और यन्त्र-तन्त्रके हजारों बन्धन-पाश हटाकर उन्हें बहुत कुछ स्वच्छन्द गतिका अवसर दे दिया गया था। पर इस समय एक भारत-व्यापी भारी मकड़ीके जालेमें ब्राह्मणसे लेकर शूद्र तक, सबके हाथ-पैर बँध गये हैं और वे मुर्दोंकी तरह निश्चल होकर पड़े हुए हैं। न तो पृथ्वीका काम करते हैं और न परमार्थ-रूप योग ही साधते हैं। पहले जो काम था वह भी बंद हो गया और इस समय जो काम आवश्यक हो पड़ा है उसके होनेमें भी पगपग पर रुकावटें डाली जाती हैं।

अतएव हमको समझना चाहिए कि इस समय हम जिस गतिशील संसारमें अचानक आगये हैं उसमें रहकर यदि हमें अपनी प्राणरक्षा और मानरक्षा करनी है तो हर घड़ी साधारण आचारविचारोंको लेकर तर्क-वितर्क करनेसे या कपड़ा समेटकर, नाककी नोक सिकोड़कर, बेत-

* बंगालमें ब्राह्मण और शूद्र दो ही वर्ण हैं। इसीसे लेखक महाशयने यहाँ उन्हीं दोका उल्लेख किया है।—अनुवादक।

रह सँभल सँभलकर पैर रखनेसे काम नहीं चलेगा। ऐसा सोचना भूल है कि यह विशाल विश्व ब्रम्हाण्ड कीचड़का कुण्ड है; सावन भादोंकी कच्ची सड़क है; पवित्र पुरुषोंके चरणकमल रखनेके अयोग्य है। इस समय अगर प्रतिष्ठा चाहते हो तो उसके लिए चित्तकी उदारता, सर्वाङ्गीण नीरोगता, स्वास्थ भाव, शरीर और बुद्धिकी प्रबलता, ज्ञानका प्रचार और प्रसार तथा विश्रामहीन तत्परताकी बड़ी आवश्यकता है। इधर ध्यान दो।

हम लोग पृथ्वींके अन्य लोगोंके छूजानेसे भी यत्नपूर्वक बचकर अपने महामान्य 'आपे' को सदा धो माँजकर, छिप छुपकर और दूसरोंको नीच म्लेच्छ आदि नाम देकर उनसे घृणा करते हुए जिस ढंगसे चल रहे थे उसको आध्यात्मिक बाबुआना या शौकीनी कहते हैं। मनुष्यत्व इस प्रकारकी अति विलासितामें धीरे धीरे निकम्मा और चौपट हो जाता है।

जड़ पदार्थ ही शीशेके घेरेमें बंद रक्खा जाता है। किन्तु यदि जड़ और जीवके भेदको भूलकर जीवको भी खूब साफ रखनेके लिए निर्मल बिल्लौरी संपुटके भीतर बंद रक्खा जाय, तो यह सच है कि उसमें धूलका आना रुक जायगा, मगर उसके साथ ही स्वास्थ्य भी रुकेगा; अर्थात् ऐसा करना मलिनता और जीवन दोनोंको ही यथासंभव घटा देना है।

हमारे पण्डित लोग कहा करते हैं कि हम लोगोंने जो एक अद्भुत आर्यपवित्रता प्राप्त की है वह बहुत साधना करनेसे मिली है—वह बड़ी ही कीमती चीज है। उसकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करनेकी आवश्यकता है। इसी लिए हम लोग सब प्रकारसे म्लेच्छों और यवनोंसे बचनेकी—उनसे छूतक न जायँ, इसकी—चेष्टा किया करते हैं।

इस सम्बन्धमें दो बातें कहनेकी हैं। एक तो यह कि यद्यपि हम सभी लोग विशेष रूपसे पवित्रताकी चर्चा करनेवाले या पवित्र रहनेवाले नहीं हैं, तथापि अधिकांश मनुष्यजातिको अपवित्र समझकर एक सर्वथा अन्याय विचार, अमूलक अहंकार, और आपसमें अनर्थक अन्तर या विरोध उत्पन्न करनेका उद्योग किया जाता है। इस बातको बहुत लोग स्वीकार ही नहीं करते कि यह पवित्रताकी दुहाई देकर हम जो विजातीय मनुष्योंसे घृणा करते हैं सो वह घृणा हमारे चरित्रके भीतर घुनका काम कर रही है। वे बेधड़क कह उठते हैं कि हम लोग घृणा कहाँ करते हैं? हमारे शास्त्रोंमें ही लिखा है—"वसुधैव कुटुम्बकम्।" किन्तु यहाँ पर यह विचारणीय नहीं है कि शास्त्रोंमें क्या लिखा है और बुद्धिमान् लोग व्याख्या करके उसका क्या अर्थ ठहराते हैं। विचार केवल यह करना है कि हमारे आचरण या बर्तावसे क्या प्रकट होता है; और उस आचरणका आदिकारण चाहे जो हो किन्तु उससे सर्वसाधारणके हृदयमें सहज ही मनुष्य-घृणा उत्पन्न होती है कि नहीं; तथा एक जातिके छोटेसे लेकर बड़े तक सब आदमियोंको किसी दूसरी जातिमात्र पर बिना विचारे घृणा करनेका अधिकार है या नहीं।

दूसरी बात यह है कि जड़ पदार्थ ही बाहरी मलिनतासे दूषित होते हैं। हम जब घराऊ पोशाक पहनकर घूमने निकलते हैं तब बहुत सँभलकर चलना होता है। तब बहुत सावधानीसे सँभलकर बैठना होता है जिसमें कहीं धूल न लग जाय, पानीकी छींटें न पड़ जायँ, कहीं किसी तरहका दाग न लग जाय। पवित्रता अगर ऐसी ही पोशाक हो तो अवश्य ही यों डरना ठीक है कि इन लोगोंकी छूतसे कहीं वह काली न हो जाय, उन लोगोंकी हवा लगनेसे कहीं उसमें धब्बा न

पड़ जाय। इस तरहकी पोशाकी पवित्रता लेकर संसारमें रहना सच-मुच ही एक भारी विपत्ति है। जनसमाजकी युद्धभूमि, कर्मभूमि और रङ्गभूमिमें ऐसी सँवारी हुई पवित्रताको सँभालकर चलना अत्यन्त कठिन समझकर, जिनको शुचि-वायुका रोग है वे अभागे जीव अपने चलने-फिरने और रहनेकी जगह अत्यत संकीर्ण (तंग) बना लेते हैं और अपनेको कपड़े-लत्तोंकी तरह सदा सन्दूकमें बन्द रखते हैं उनके द्वारा मनुष्यका परिपूर्ण विकास या उन्नति कभी नहीं हो सकती।

आत्माकी आन्तरिक पवित्रताके प्रभावसे बाहरी मलिनताके प्रति थोड़ी-बहुत उपेक्षा किये बिना काम ही नहीं चल सकता। जो मनुष्य सौन्दर्यका बड़ा भारी भक्त है वह अपना रंग बिगड़नेके डरसे पृथ्वीकी धूल-मिट्टी और हवा-धूप-पानीसे सदा बच कर चलनेकी चेष्टा करता है और मोमके पुतलेकी तरह निरापद स्थानमें बैठा रहता है। वह भूल जाता है कि रंगकी सुकुमारता या सोफियानापन सौन्दर्यकी एक बाहरी सामग्री है, उसकी भीतरी प्रतिष्ठा-भूमि स्वास्थ्य ही है— अर्थात् स्वास्थ्य ही सौन्दर्यकी नींव है। जड़ पदार्थके लिए स्वास्थ्यकी जरूरत नहीं है, इसीसे यदि जड़को ढक रक्खें—बंद कर रक्खें तो कोई हानि नहीं। अतएव यदि हम आत्माको जड़ या मृत पदार्थ नहीं समझते तो थोड़ी बहुत मलिनताका खटका होने पर भी उसके स्वास्थ्यके खयालसे, उसे सबल बनानेके उद्देश्यसे उसका साधारण जगत्से सम्बन्ध स्थापित करना बहुत जरूरी है।

अब यहाँ मालूम हो जायगा कि ऊपर आध्यात्मिक बाबुआना शब्दका प्रयोग क्यों किया गया था। जैसे बेहद बाहरी सुखोंके सेवनकी आदतको ही विलासिता, बाबुआना या शौकीनी कहते हैं वैसे ही अत्यन्त बाह्य-पवित्रता-प्रियताको आध्यात्मिक

विलासिता कह सकते हैं। खाने-पीने सोने-बैठनेके ढंगमें जरा इधर-उधर होते ही सुकुमार पवित्रतामें धक्का लग गया—ऐसा समझना आध्यात्मिक बाबुआनामें ही शामिल है। और इसमें कोई सन्देह ही नहीं कि बाबुआना चाहे जिस तरहका हो उससे मनुष्यत्वका बल और वीर्य नाश हो जाता है।

यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि संकीर्णता और जड़ता दोनों ही बहुत कुछ निरापद हैं। और यह भी सच है कि जिस समाजमें मनुष्य-प्रकृतिका पूर्ण विकास और जीवनमें गति है उस समाजको बहुतसे उपद्रवोंका सामना करना पड़ता है। जहाँ जीवन अधिक है वहाँ स्वाधीनता अधिक है और इसी कारण विचित्रता भी अधिक है। वहाँ भले और बुरे, दोनोंकी प्रबलता है। यदि मनुष्योंके नख और दाँत उखाड़ लिये जायँ, आहार कम कर दिया जाय और उन्हें दोनों वक्त चाबुकका डर दिखाया जाय तो एक प्रकारके चलनेकी शक्तिसे शून्य अत्यन्त निरीह पालतू प्राणियोंका दल पैदा हो जायगा; जीव-स्वभावकी विचित्रता एकदम मिट जायगी; और तब यह देखकर जान पड़ेगा कि भगवान्ने इस पृथ्वीमण्डलको एक भारी पिंजड़के रूपमें बनाया है—जीवके रहनेके लिए इसकी सृष्टि नहीं की।

किन्तु समाज-बालककी जो पुरानी धायें हैं वे समझती हैं कि मोटे ताजे तन्दुरुस्त लड़के नटखट होते हैं; वे कभी रोते-मचलते हैं, कभी कूदते फाँदते और दौड़ते हैं; कभी बाहर जाना चाहते हैं; वे बहुत हैरान करते हैं। इस कारण उन्हें जरासी अफीमकी मात्रा देकर वे अफीमके नशेमें मृतप्राय बनाकर रक्खे जायँ तो फिर घरका कामकाज खूब निश्चिन्त होकर किया जा सकता है।

स्वाभाविक नियमके अनुसार समाज जितनी ही उन्नति करता है उतनी ही उसकी जिम्मेदारी और कर्तव्यकी उलझन बढ़ती जाती है। यदि हम कहें कि हम इतना नहीं कर सकते, हममें इतना उद्यम नहीं है, शक्ति नहीं है; यदि हमारे माता-पिता कहें कि हम बेटे बेटियोंको उपयुक्त अवस्था तक मनुष्यत्वकी शिक्षा देनेमें तो असमर्थ हैं, किन्तु मनुष्यके लिए जितना शीघ्र सम्भव है ( यहाँ तक कि असम्भव भी कहा जा सकता है ), हम माता-पिता बननेको तैयार हैं; यदि हमारे विद्यार्थी लोग कहें कि संयम हमसे नहीं हो सकता, शरीर और मनकी सम्पूर्णता प्राप्त करनेकी राह देखनेमें हम बिलकुल असमर्थ हैं, असमयमें अपवित्र स्त्रीपुरुष-सम्बन्ध हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्यों कि हिन्दूधर्मका यही विधान है—हम न उन्नति चाहते हैं, न झंझट चाहते हैं, हमारा इसी प्रकार बड़े मजेमें काम चला जायगा; तो चुप रहनेके सिवा इसका कुछ उत्तर ही नहीं है। परन्तु यह बात फिर भी कहनी ही पड़ती है कि हीनताको हीनता समझना भी अच्छा है किन्तु बुद्धिके बलसे निर्जीवता या जड़ताको साधुता और असमर्थताको सर्वश्रेष्ठता साबित करना अच्छा नहीं। ऐसा करना सद्गतिकी राहमें चारों ओरसे एकदम काँटे रूँध देनेके बराबर है।

असल बात यह है कि यदि सर्वांगपूर्ण मनुष्यत्वके ऊपर हमको श्रद्धा और विश्वास रहे तो इतनी बात ही न उठे। तब तो अपनेको कुछ कूट-कौशल-पूर्ण व्याख्याओंमें भुलाकर थोड़ेसे बाहरी संकीर्ण संस्कारोंके घेरेमें बंद हो रहनेकी प्रवृत्ति ही न हो।

जिस समय हमारी जाति वास्तवमें एक जाति थी, उस समय हम भी युद्ध और बनिज-व्यापार करते थे; हमारा शिल्पकौशल उत्तम और

प्रसिद्ध था; हम देश-देशान्तरोंमें आते जाते और अन्य जातियोंसे अनेक विद्यायें सीखते और उनको सिखाते थे; हमारे पास दिग्विजय करनेवाला बल और विचित्र ऐश्वर्य था। आज इसको बहुत वर्ष बीत गये; इस समय और उस समयके बीचमें अनेक उलट फेरोंका अन्तर आ पड़ा है। आज हम समयके सीमान्त-प्रदेशमें स्थित उसी भारतीय सभ्यताको, पृथ्वीसे बहुत दूर पर स्थित एक तपस्यासे पवित्र और होम-धूम-रचित अलौकिक समाधि-राज्यकी तरह देख पाते हैं; और उसका मिलान अपने इस वर्तमान ठंडी छाँहवाले, कर्महीन, निद्रालस, निस्तब्ध गाँवके साथ करते हैं। किन्तु इस मिलानमें यथार्थता कुछ भी नहीं है।

हमारी यह कल्पना निरी कल्पना ही है कि हमारे यहाँ केवल आध्यात्मिक सभ्यता थी; उपवास करनेसे दुर्बल हुए हमारे सारे पूर्व-पुरुष अलग अलग अकेले बैठकर अपने अपने जीवात्माको हाथमें लिये उसे सान पर चढ़ाया करते थे—उसको कर्मसे बिलकुल अलग रखकर अत्यन्त सूक्ष्म ज्योतिकी रेखा बना डालनेकी चेष्टामें लगे रहते थे।

हमारी उस सर्वाङ्गसम्पन्न प्राचीन सभ्यताको मरे बहुत दिन हो गये। हमारा वर्तमान समाज उसकी प्रेतयोनि मात्र है। अपने क्षीण अङ्गोंको देखकर हम अनुमान करते हैं कि हमारी पुरानी सभ्यताके भी इसी प्रकार शरीरका लेश भी न था; वह केवल एक छायामय आध्यात्मिकता थी। उसमें पृथ्वी-जल-अग्निका नाम भी न था; था केवल थोड़ासा वायु और आकाश।

केवल महाभारतको पढ़नेसे ही इस बातका पता लग जाता है कि हमारी उस समयकी सभ्यतामें जीवनका वेग कितना प्रबल था।

उसमें कितने ही समाजविप्लव और कितनी ही परस्परविरोधी शक्तियोंकी टक्करें देख पड़ती हैं। वह समाज किसी एक बड़े बुद्धिमान् कारीगर आदमीके हाथका गढ़ा हुआ अत्यन्त सुन्दर सुसज्जित समतायुक्त 'कल' का समाज न था। उस समाजमें एक तरफ लोभ, हिंसा, भय, द्वेष और असंयत अहङ्कारने और दूसरी तरफ विनय, वीरता, आत्मत्याग, उदार महत्त्व और अपूर्व साधु-भावने मनुष्यचरित्रमें हलचल डालकर उसे सजग सचेत बना रक्खा था। उस समाजमें सभी पुरुष साधु न थे, सभी स्त्रियाँ सती न थीं और सभी ब्राह्मण तपस्वी न थे। उस समाजमें विश्वामित्र ऐसे क्षत्रिय थे; द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और परशुराम ऐसे ब्राह्मण थे; कुन्ती ऐसी सती थीं; क्षमाशील युधिष्ठिर ऐसे राजा थे; शत्रुओंके रक्तकी प्यासी तेजस्विनी द्रौपदी ऐसी रमणी थीं। उस समयके समाजमें भलाई और बुराई, प्रकाश और अन्धकार आदि जीवनके लक्षण वर्तमान थे। उस समयका मनुष्यसमाज रेखा-चिह्नित, विभाग-युक्त, संयत और सिलसिलेवार नक्काशीके समान नहीं था। विप्लवके द्वारा क्षोभको प्राप्त हुई विचित्र मनुष्यप्रवृत्तियोंके घात-प्रतिघातके कारण, सदा जागते रहनेकी शक्तिसे परिपूर्ण उसी समाजमें हमारी वह प्राचीन सभ्यता छाती फुलाये विशाल शाल वृक्षकी तरह सिर ऊँचा किये विराजमान थी।

उसी प्रबल वेगवाली सभ्यताको आज हम अपनी कल्पनासे निपट निश्चेष्ट निर्विरोध निर्विकार निरापद और निर्जीव बताकर कहते हैं कि हम लोग वही सभ्यजाति हैं, हम लोग वही आध्यात्मिक आर्य्य हैं। हम लोग केवल जप तप करेंगे; दलबन्दी करेंगे; और समुद्रयात्राको रोककर, दूसरी जातियोंको अछूत बताकर, उस महान् हिन्दू-नामको सार्थक करेंगे।

किन्तु इसके बदले यदि हम सत्यको प्यार करें, विश्वासके अनुसार काम करें, घरके लड़कोंको ढेरके ढेर झूठमें डालकर गोल गोल गलेकी फाँसी न बनावें—बरन् उन्हें सत्यकी शिक्षासे सरल, सबल और दृढ़ बनाकर सिर ऊँचा करके खड़ा कर सकें; यदि अपने हृदयमें ऐसी अभिमानरहित उदारताकी चर्चा कर सकें कि हम चारों ओरसे ज्ञान और महत्त्वको नियम-पूर्वक सानन्द, सादर, संभाषण करके ला सकते हैं; यदि हम संगीत, शिल्प, साहित्य, इतिहास, विज्ञान आदि विविध विद्याओंकी आलोचना और चर्चा करके, देश-विदेशमें घूमकर, सारी पृथ्वीको रत्ती रत्ती छानकर—जाँच परतालकर और मन लगाकर निष्पक्ष भावसे विचारकर, अपनेको चारों ओरसे खोलकर—विकसित कर ऊपर उठा सकें, तो, यह तो नहीं कहा जा सकता कि जिसे मैं 'हिन्दूपना' कहता हूँ वह पूरी तौरसे टिकेगा कि नहीं, किन्तु यह अवश्य होगा कि प्राचीन कालमें जो सजीव सचेष्ट तेजस्वी हिन्दू-सभ्यता थी उससे हमारा बहुत कुछ मेल हो सकेगा।

यहाँ पर मेरे जीमें एक उपमा आती है। वर्त्तमान समयमें भारतकी प्राचीन सभ्यता खानके भीतरके पत्थरके कोयलेके समान है। किसी समय जब उसमें घटने-बढ़ने और लेने-देनेका नियम था तब वह बड़े भारी जंगलके रूपमें जीवित थी। उस समय उसमें बसन्त और वर्षाका सजीव समागम होता था; उसमें फल फूल और नव पल्लवोंका स्वाभाविक विकास था। इस समय उसमें वृद्धि या गति न होने पर भी वह हमारे लिए अनावश्यक नहीं हो गई है। उसके भीतर अनेक युगोंकी गरमी और प्रकाश छुपा हुआ है। किन्तु हमारे निकट वह अन्धकारमय और ठण्डी है। हम उससे केवल घोर काले अहङ्कारका स्तम्भ बनाकर खेल करते हैं। इसका कारण यही है कि

अपने हाथमें अगर रोशनी नहीं है तो केवल अनुसन्धानके द्वारा प्राचीन कालकी तहमें गढ़ा खोदकर चाहे जितने खनिज पदार्थोंके ढोके निकाल लाओ वे सब किसी कामके नहीं हैं। फिर हम उन्हें आप निकालते भी तो नहीं हैं; अँगरेज़ोंकी रानीगंजकी आढ़तसे खरीद लाते हैं। इसमें भी कोई चिन्ता नहीं; किन्तु हम करते क्या हैं? आग तो है नहीं, केवल फूँक मारते हैं और कागज हिला हिलाकर हवा करते हैं। कोई कोई ऐसे भी हैं जो उसपर सेंदुर पोत कर सामने बैठे भक्तिभावसे घंटा बजा रहे हैं।

हमको याद रखना चाहिए कि जब हममें सजीव मनुष्यत्व होगा तभी हम प्राचीन और आधुनिक मनुष्यत्वको, पूर्व और पश्चिमके मनुष्यत्वको अपने व्यवहारमें—काममें ला सकेंगे।

मृत मनुष्य ही जहाँका तहाँ पड़ा रहता है। जो जीवित है वह दशों दिशाओंमें चलता-फिरता आता-जाता है। वह भिन्नतामें एकता स्थापित करके परस्पर विपरीत भावोंके बीच पुल बाँध सारे सत्य तक अपनी पहुँच कर लेता है—उस पर अपना अधिकार कर लेता है। वह एक ओर झुकनेको नहीं, किन्तु चारों ओर फैलनेको ही अपनी यथार्थ उन्नति जानता है।
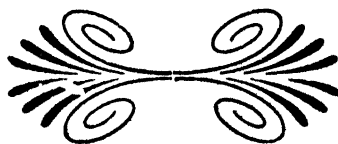
# भारतवर्षका इतिहास।

आजकल भारतवर्षका जो इतिहास पढ़ा जाता है—जिसे रटकर लड़के परीक्षा देते हैं—वह भारतको आधीरातके सन्नाटेमें दिखाई दिये हुए बुरे सपनेकी कहानीमात्र है। न जानें कहाँसे कोन आये; लड़ाई-भिड़ाई, मारकाटका शोर मच गया; बाप-बेटे और भाई-भाईमें राजगद्दीके लिये चोटें चलने लगीं; एक दल जाता है तो दूसरा दल आता है; वह सिधारता है तो तीसरा पधारता है। पठान-मुगल-पोर्च्युगीज-फरासीसी-अँगरेज, सबने मिलकर उस दुःस्वप्नको उत्तरोत्तर जटिल बना डाला है।

किन्तु, इस प्रकार रक्तरञ्जित चंचल स्वप्नका पर्दा डाल कर देखनेसे भारतका यथार्थ रूप नहीं दिखाई दे सकता। इस पृथ्वीपर भारतवासियोंका स्थान कहाँ है, इसका कुछ भी उत्तर ये इतिहास नहीं देते। इन्हें देखनेसे तो यही जान पड़ता है कि भारतवासी कहीं हैं ही नहीं; भारतमें जो लोग खूनखराबी, मारकाट, लूटपाट कर गये हैं वे ही जो कुछ हैं सो हैं।

मगर क्या उस दुर्दिनमें उस मारकाट और खूनखराबीके सिवा और कुछ था ही नहीं? ऐसा नहीं हो सकता। आँधीके समय आँधी ही उस समयकी प्रधान घटना है—यह बात आँधीके लाख लाख गरजने पर भी नहीं मानी जा सकती। उस दिन—उस आँधी—पानीके दोन-

भी उस धूलिधूसरित आकाशके तले घर घर जन्म-मृत्यु और सुख दुखका काम जारी था। वह काम आँधीके मारे चाहे देख न पड़े, पर हमारे लिए वही जाननेकी चीज है; हमें इस समय उसीके जाननेकी जरूरत है। किन्तु हमारे लिए वही प्रधान ज्ञेय होने पर भी, विदेशीके लिए वह आँधी ही प्रधान है। उस आँधीकी धूल उसकी आँखोंमें ऐसी भर गई है कि वह और कुछ देख ही नहीं सकता। इसका कारण यही है कि वह हमारे घरके बाहर है। इसीसे हम विदेशी लेखकोंके लिखे भारतके इतिहासमें उसी धूल उसी आँधीका वर्णन पाते हैं; अपने घरका हाल कुछ नहीं पाते। वह इतिहास पढ़नेसे जान पड़ता है कि उस समय भारतवर्ष था ही नहीं; केवल मुगल-पठानोंके गर्जन पूर्ण बवण्डर, सूखे पत्तोंके सदृश, झण्डे उड़ाकर उत्तरसे दक्षिण और पश्चिमसे पूर्व तक घूम रहे थे।

किन्तु असल बात तो यह है कि उस समय भी हमारा देश था। यदि नहीं था, तो इस उपद्रव-उत्पातके समयमें भी, रणजीतसिंह शिवाजी, राणा प्रतापसिंह, कबीर, नानक, चैतन्यदेव, तुकाराम, रामदास, आदि कहाँ पैदा हुए ? तुलसी, सूर, भूषण आदि कवियोंने कहाँ जन्म लिया ? उस समय दिल्ली और आगरा ही न था; काशी, नवद्वीप, पंजाब, राजपूताना और महाराष्ट्र-प्रान्त भी था। इन सपूतोंने जिस समय जन्म लिया उस समय हमारे घरमें—असली भारतवर्षमें वेगसे जीवनस्रोत बह रहा था। उस समय हमारे घरमें जो चेष्टाकी लहरें उठ रही थीं, जो सामाजिक परिवर्त्तन हो रहे थे, उनका ब्यौरा विदेशियोंके लिखे इतिहासमें कहीं नहीं मिलता।

यह सब होनेपर भी, पाठ्यपुस्तकोंसे बहिर्भूत उसी भारतके साथ हमारा चिर-सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध स्वाभाविक होनेके कारण

सहजमें टूटने लायक नहीं। इसीसे जब उस सम्बन्धका बहु-वर्ष-व्यापी ऐतिहासिक सूत्र, हमको पढ़नेके लिये समय नहीं मिलता तब हमारा हृदय निरवलम्ब हो जाता है, और, डूबते हुए मनुष्यकी तरह, जिस वस्तुको सामने पाता है उसीको पकड़ने दौड़ता है। हम लोग भारतवर्षके घास-फूस नहीं हैं; सैकड़ों शताब्दियोंसे, हमारी जड़की हजारों शाखायें भारतवर्षके मर्मस्थानपर अधिकार जमाये बैठी हैं। किन्तु हमारे, अभाग्यसे, हमें जो इतिहास पढ़ना पड़ता है वह ठीक इससे उलटा सबक देता है। हमारे लड़के भारतके साथ अपने ऐसे सम्बन्धकी बात जानने ही नहीं पाते। उन्हें जान पड़ता है कि भारतके वे कोई हैं ही नहीं; अन्य देशोंसे आये हुए ही सब कुछ हैं।

जब अपने देशके साथ हम अपने सम्बन्धको ऐसा हीन समझ लेते हैं तब देश पर ममता या अनुराग कहाँसे हो? इस दशामें स्वदेशके स्थान पर विदेशको स्थापित करनेमें हमको कुछ भी सङ्कोच नहीं होता। भारतवर्षकी बेइज्जती देखकर हमको मर्मवेदना और लज्जाका अनुभव ही नहीं हो सकता। हमारे अँगरेज़ी पढ़े लिखे नौजवान अनायास कह उठते हैं कि हमारे देशमें पहले था ही क्या? हमको तो खानपान, चालढाल, रहनसहन, सब कुछ विदेशियोंसे सीखना ही होता।

भाग्यशाली देशोंके निवासी लोग देशके इतिहासमें ही अपने चिरकालीन देशको पाते हैं-बाल्यावस्थामें इतिहास ही उनके देशके साथ उनका घनिष्ट परिचय करा देता है। किन्तु, हमारे यहाँ ठीक इससे उलटा है। देशके इतिहासने ही हमारे देशको छिपा रक्खा है। महमूदके आक्रमणसे लेकर लार्ड कर्जनके साम्राज्य-गर्वसे भरे हुए उद्गार निकलने तक जो कुछ भारतका इतिहास लिखा गया है वह हमारे लिए

विचित्र—अन्धकारमय कुहासा है। वह, अपने देशको देखनेमें हमारी दृष्टिकी सहायता नहीं करता; बल्कि स्वभावतः जो कुछ हम देख सकते हैं उसमें भी रुकावट डालता है। वह ऐसी जगहपर अपना बनावटी प्रकाश डालता है जहाँसे हमारा देश हमें अन्धकारमय जान पड़ता है। उस अन्धकारमें, मैजिक लालटैनके तमाशेकी तरह, नवाबोंकी विलास-शालाके झाड़ फानूसोंका प्रकाश प्रकट होता है; और उस प्रकाशमें नवाबोंकी बेगमों और रखैल रण्डियोंके जवाहरात-जड़े जेवर जगमगा उठते हैं; बादशाहोंके शराबके प्याले, जागनेसे लाल हुए साक्षात् उन्मत्तताके लाल नेत्रोंकी तरह, दिखलाई देते हैं। उस अन्धकारमें हमारे सारे प्राचीन देव-मन्दिर सिर झुका लेते हैं और बादशाहोंकी प्रणयिनियोंके श्वेत-संगमरमर-विरचित, वैभव-पूर्ण, समाधि-मन्दिरोंकी चोटियाँ आकाश चूमनेके लिए उद्यत हो उठती हैं। उस अन्धकारमें घोड़ोंके टापोंकी ध्वनि, हाथियोंकी चिंग्घार, हथियारोंकी झनझनाहट, दूरतक फैली हुई छावनियोंमें लहरानेवाला सैनाका कोलाहल, कमखाबके बिछौनोंकी सुनहली छटा, मसजिदोंकी फेनानिभ कलसियाँ और पहरेदारोंसे सुरक्षित महलोंके अन्तःपुरमें रहस्य निकेतन या रङ्गभवनका सन्नाटा—ये सब बातें विचित्र शब्द, वर्ण और भावके द्वारा जिस बड़े भारी इन्द्रजालकी रचना करती हैं उसे भारतवर्षका इतिहास कहनेसे क्या लाभ? इस इन्द्रजालमय उपन्यासने भारतवर्षकी पुण्य-मन्त्रमय पुस्तकको विचित्र अलिफलैलाकी कहानियोंसे लपेट रक्खा है। इस समय उस पुण्य-मन्त्रमय पुस्तकको कोई नहीं खोलता। शिक्षार्थी बालक उसी अलिफलैलाके किस्सेको कण्ठस्थ कर लेते हैं।

इसके बाद प्रलय-रात्रिमें, जब मुगल-साम्राज्य रण-शय्या पर पड़ा सिसक रहा था, श्मशान-भूमिमें दूरसे आये हुए गिद्धोंमें पर-

स्पर चातुरी और प्रवञ्चनाकी चोटें चलने लगीं। उनका वर्णन भी भारतका इतिहास नहीं माना जा सकता। इसके बाद अँगरेजोंका शासन शुरू होता है। वह पाँच पाँच वर्षके हरएक लाटके शासनमें बँटा हुआ शतरंजके समान विचित्र है। शतरंजमें और उसमें अन्तर केवल इतना ही है कि शतरंजके खाने आधे काले और आधे सफेद होते हैं, पर इसमें सोलहों आने सफेद रंग है। उसमें हमारे शिक्षित बन्धु अपने पेटका अन्न औरोंको देकर उसके बदलेमें सुशासन, सुविचार, सुशिक्षा आदि सब कुछ एक बड़े भारी 'ह्वाइट-वे-लेडला' कम्पनीके कारखानेसे खरीद रहे हैं। शेष सभी दूकानें और बाजार बन्द हैं। इस कारखानेकी सभी चीजें 'सु' हो सकती हैं; परन्तु इसके द्वारा प्रकाशित और प्रचारित भारतवर्षका इतिहास हमारे किसी कामका नहीं।

सब देशोंके इतिहास एक ही ढँगके होने चाहिए—यह कुसंस्कार है। इस कुसंस्कारको छोड़े बिना काम नहीं चल सकता। जो आदमी 'रथचाइल्ड' का जीवनचरित पढ़ चुका है वह ईसाकी जीवनी पढ़ते समय ईसाके हिसाब-किताबका खाता और आफिसकी डायरी तलब कर सकता है; और यदि ईसाकी जीवनीमें उनके हिसाब-किताबका खाता तथा डायरी वह न पावेगा तो उसे ईसाके प्रति अश्रद्धा होगी। वह कहेगा कि जिसके पास एक पैसेका भी सुभीता न था उसकी जीवनी कैसी? ठीक इसी तरह, भारतवर्षके राष्ट्रीय दफ्तरसे उसके राजाओंकी वंशमाला और जय-पराजयके कागज-पत्र न पाकर जो लोग निराश हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि "जहाँ राजनीति नहीं वहाँ इतिहासका क्या जिक्र?" वे सचमुच ही धानके खेतमें बैंगन ढूँढने जाते हैं और वहाँ बैंगन न पाकर धानकी गिनती अन्नमें ही नहीं करते। सब

खेतोंमें एक ही चीज नहीं होती, यह समझकर जो लोग स्थानके अनुसार उपयुक्त खेतसे उपयुक्त अन्नकी आशा करते हैं वे ही समझदार समझे जाते हैं।

ईसाकी जीवनीमें हिसाबका बहीखाता तलब करनेसे उस विषयमें उनके प्रति अश्रद्धा हो सकती है, किन्तु उनके चरित्रके अन्य अंशोंपर दृष्टि डालनेसे हिसाबका बहीखाता भूल जाता है। इसी तरह राष्ट्रीय मामलेंमें भारतवर्षको औरोंसे हीन समझ लेने पर भी अन्य ओर दृष्टि डालनेसे वह हीनता जरा भी नहीं खटकती। उसी ओरसे—अर्थात् अपने घरकी ओरसे भारतवर्षको न देखकर, हम लोग लड़कपनसे ही उसे छोटा समझते हैं और आप भी छोटे बनते हैं। अँगरेजका बच्चा जानता है कि उसके बापदादाओंने अनेक युद्धोंमें जय-लक्ष्मी प्राप्त की है; अनेक देशों पर कब्जा करके वहाँ अपने देशका बनिज-व्यापार फैलाया है, इसीसे वह भी अपनेको रणगौरव, धनगौरव और राज्यगौरवके योग्य बनाना चाहता है। और हम क्या जानते हैं? हम जानते हैं कि हमारे बापदादे बिलकुल ही असभ्य, कायर और मूर्ख थे; उन्होंने न कभी किसी युद्धमें विजय-वैजयन्ती उड़ाई, न किसी देशपर अधिकार जमाया और न अपने देशकी उन्नति ही की। हमको यही जतानेके लिए शायद यह भारतका इतिहास है। हमारे बापदादाओंने क्या किया, सो तो हम कुछ भी नहीं जानते। फिर अब हम क्या करें? बस, औरोंकी नकल!

हम इसके लिए दोष किसे दें? लड़कपनसे हम जिस ढँगकी शिक्षा पाते हैं उससे, शिक्षाके पहले ही दिनसे, देशके साथ जो हमारा हार्दिक सम्बन्ध है वह विच्छिन्न होता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि धीरे धीरे हम देशके विरोधी और विद्रोही बनते चले जाते हैं।

हमारे देशके सुशिक्षित कहलानेवाले उपाधिधारी लोग भी नासमझोंकी तरह, दूसरोंके स्वरमें स्वर मिलाकर, बारबार कह उठते हैं कि देश तुम किसे कहते हो? हमारे देशमें यह 'स्वदेश' की विशेषता कब थी, और इस समय भी कहाँ है?

इस प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देना सहज नहीं। इसका कारण यही है कि यह बात इतनी सूक्ष्म और इतनी बड़ी है कि केवल युक्ति और अल्प तर्कसे समझी या समझाई नहीं जा सकती। चाहे अँगरेज हों और चाहे फरासीसी, किसी भी देशके आदमी इन प्रश्नोंका उत्तर दो-चार बातोंमें नहीं दे सकते। वे नहीं बता सकते कि उनका देशी भाव क्या है, और उनके देशका मूल मर्मस्थान कहाँ है? ये बातें देह-स्थित • प्राणकी तरह प्रत्यक्ष सत्य हैं; तथापि प्राणकी तरह संज्ञा और धारणासे परे हैं। यह देशी भाव, एक प्रश्नके उत्तरमें दो चार बातें सुन लेनेसे समझमें नहीं आ सकता। भारतमें लेक्चर सुनकर ही कोई देशी भावको नहीं ग्रहण करता था। वह तो बचपनहीसे हमारे ज्ञानके भीतर हमारे प्रेमके भीतर, हमारी कल्पनाके भीतर अनेक अलक्ष्य मार्गोंसे अनेक आकार धारण करके प्रवेश करता था। इस देशी भावका नियम ही यह है कि वह इसी तरह ज्ञान, प्रेम और कल्पनामें प्रवेश करके अपनी विचित्र जादू-भरी शक्तिसे, चुपचाप छिपे-छिपे हृदयका संगठन करता है—अतीतके साथ वर्त्तमानका विच्छेद नहीं होने देता। इसीकी कृपासे हम अब भी बड़े हैं-हम अब भी मरे नहीं जीवित हैं। इस विचित्र उद्यममयी गुप्त पुरातन शक्तिको हम संशयपूर्ण जिज्ञासुके आगे किसी संज्ञाके द्वारा, या दो-चार बातोंसे, किस तरह जाहिर कर सकते हैं?

भारतवर्षकी प्रधान सार्थकता या देशीभाव क्या है?—इस प्रश्नका जो स्पष्ट उत्तर हो सकता है उसका समर्थन भारतवर्षका सच्चा इति-

हास ही करेगा। भारतकी सदासे यही चेष्टा देखी जाती है कि वह अनेकतामें एकता स्थापित करना चाहता है; वह अनेक मार्गोंको एक ही लक्ष्यकी ओर अभिमुख करना चाहता है; वह बहुतके बीच किसी एकको निस्संशय-रूपसे—अन्तरतर-रूपसे—उपलब्ध करना चाहता है। उसका सिद्धान्त या उद्देश्य यह है कि बाहर जो विभिन्नता देख पड़ती है उसे नष्ट न करके, उसके भीतर जो निगूढ़ संयोग देख पड़ता है उसे प्राप्त करना चाहिए।

एकको प्रत्यक्ष करने या ऐक्य-विस्तार करनेकी यह चेष्टा भारतके लिए अत्यन्त स्वाभाविक और अन्य लोगोंकी अपेक्षा सहज भी है। भारतसे इसी स्वभावने उसे सदासे, राष्ट्रगौरवकी ओरसे उदासीन बना रक्खा है। राष्ट्र-गौरवकी जड है विरोधका भाव। जो लोग गैरको गैर ही नहीं समझ सकते, अथवा यों कहिए कि गैरके प्रति सहानुभूति-शून्य ही नहीं हो सकते, वे राष्ट्रगौरवकी प्राप्तिको अपने जीवनका चरम लक्ष्य कभी नहीं मान सकते। दूसरेके विरुद्ध अपनेको प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा ही राजनैतिक उन्न-तिकी नीव है। इसी तरह दूसरेके साथ अपने सम्बन्ध-बन्धन तथा अपने भीतरके विचित्र विभागों और विरोधोंमें सामञ्जस्य स्थापनकी चेष्टा ही धर्मनीतिसम्बन्धिनी और समाज-सम्बधिनी उन्नतिकी नीव है। लोग यूरपके ऐक्यकी प्रशंसा करते हैं; पर वे नहीं जानते कि यूरपकी सभ्यताने जिस एकेको पसन्द किया है वह विरोध-मूलक है, और भारत वर्षकी सभ्यताने जिस एकेको पसन्द किया है वह मिलन-मूलक है। यूरपके राजनैतिक एकेके भीतर विरोधकी फाँस मौजूद है। वह फाँस यूरपको दूसरेके विरुद्ध खड़ा कर सकती है, किन्तु उसके भीतर सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकती। वोट-भिखारिणी रमणियोंके उपद्रव और आयरलैंडको मिलनेवाले स्वराज्यके विरुद्ध होनेवाली घटनाओं पर

विचारपूर्वक ध्यान देनेसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकती है। राजनैतिक एकेके भीतर विरोध वर्त्तमान रहनेके कारण राजनीति-शास्त्रके प्रेमी यूरपमें व्यक्ति-व्यक्तिमें, राजा—प्रजामें, धनी—निर्धनमें विच्छेद और विरोधका भाव प्रबल रूपसे बना रहता है। यह समझना सरासर भूल है कि उन सबने मिलकर अपने अपने निर्दिष्ट अधिकारके द्वारा सारे समाजको संयत कर रक्खा है। वे सब एक दूसरेके प्रतिकूल आचरण करनेमें जरा भी सङ्कोच नहीं करते। वहाँ हर एक पक्ष या दलकी हर घड़ी यही चेष्टा रहती है कि दूसरे पक्ष या दलका बल किसी तरह बढ़ न जाय।

किन्तु, जहाँ सब मिलकर आपसमें धक्कमधक्का करते हैं वहाँ बलका सामञ्जस्य हो ही नहीं सकता। धीरे धीरे योग्यताकी अपेक्षा जनसंख्याका महत्व अवश्य बढ़ जाता है। तब गुणकी अपेक्षा उद्यमको श्रेष्ठता मिलती है और व्यापारी सौदागरोंकी सम्पत्ति या रुपया गृहस्थोंके धनभा-ण्डारको अपनी ओर खींचने लगता है। इस प्रकार समाजका सामञ्जस्य नष्ट हो जाता है। तब समाजके उन सब विसदृश विरोधी अङ्गों, पक्षों या दलोंको, किसी तरह जोड़तोड़ लगाकर, खड़े रखनेके लिए गवर्नमेंट कानूनपर कानून बनाती रहती है। यह परिणाम राजनीति प्रेमका अवश्यं-भावी फल है। कुछ दिनोंसे यहाँ भी यूरपकी देखादेखी राजनीतिप्रेम बढ़ जानेके कारण, हिन्दू-मुसलमानोंके लाख मेल चाहनेपर भी, उनमें परस्पर विरोध ही बढ़ता जाता है। कारण यही है कि विरोध जिसका बीज है और विरोध ही जिसकी खाद है उसका फल भी, विरोधके सिवा, मेल कभी नहीं हो सकता। इस राजनीति-प्रेमके बीचमें जो परिपुष्ट पल्लवित व्यापार देख पड़ता है वह इसी विरोध-फलका बलवान् वृक्ष है।

मगर, भारतने विसदृशको भी सम्बन्धके बन्धनमें बाँधनेकी—अपनेमें संयुक्त करनेकी—चेष्टा की है। सभी एक हो जायँ, ऐसा एक कानून जारी कर देनेसे सब एक नहीं हो सकते। जो एक होनेवाले नहीं, उनमें सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय यही है कि उनको उनके भिन्नभिन्न अधिकारोंमें अलग अलग स्थापित कर दिया जाय। जो अलग ही है उसे बलपूर्वक एक बनानेसे कभी न कभी वह अवश्य ही विच्छिन्न होजाता है। उस विच्छेदके समय बड़ा अनर्थ—घोर अनिष्ट—हो जाया करता है। हमारा भारत, मिलाने अर्थात् एक करनेके इस नियम या रहस्यको अच्छी तरह जानता था। फरासीसी विद्रोहने बाहु-बलसे रक्तपातके द्वारा मनुष्योंके सारे अलगाव या विसदृशताको दूर कर देनेकी चेष्टा की थी; पर फल उलटा ही हुआ। यूरपमें राजशक्ति और प्रजाशक्ति, धनशक्ति और जनशक्ति, क्रमशः प्रबलरूपसे एक दूसरेके विरुद्ध होती जारही है। भारतका लक्ष्य था, सबको एक सूत्रमें बाँधना। इसका उपाय भी उसने निराला ही निकाला था। भारतने समाजकी परस्पर प्रतियोगिनी या विरोधिनी सारी शक्तियोंको सीमाबद्ध और विभक्त करके समाजकलेवरको अखण्ड, अतएव सर्वशक्तिमान्, बना दिया था। उसने अपने अधिकारका क्रमशः उल्लंघन करनेकी चेष्टा करके विरोध-विश्रृंखला उपस्थित करनेका अवसर ही नहीं दिया। उसने परस्परकी प्रतियोगिता ( चढ़ाऊपरी ) के मार्गमें ही समाजकी सारी शक्तियोंको एकत्र करके और उन्हें लड़ाभिड़ाकर धर्म, कर्म गृहस्थाश्रामको आवर्त्तित, आन्दोलित, कलुषित और उद्भ्रान्त बना देनेकी स्वतन्त्रता कभी किसीको नहीं दी। ऐक्यनिर्णय, मिलन-साधन औरशान्ति तथा स्थितिके भीतर ही परिपूर्ण परिणति ( उन्नति ) और मुक्तिका अवकाश प्राप्त करना ही भारतवर्षका लक्ष्य था।

विधाता भारतवर्षमें विविध प्रकारकी विभिन्न और विचित्र जातियोंको खींच लाया हैं। इससे कोई हानि नहीं। भारतवर्षकी आर्यजातिने गैरको भी अपना बना लेनेकी शक्ति पाई है। उस शक्तिकी चर्चा और प्रयोग करनेका अवसर भी उसे प्राचीन कालसे ही प्राप्त है। ऐक्य-मूलक सभ्यताको मनुष्यजातिकी चरम सभ्यता कहना चाहिए। उसकी नीव, विचित्र उपकरणों द्वारा, चिरकालसे, भारतवर्ष ही डालता आया है। गैर कहकर उसने किसीको अपनेसे दूर नहीं किया; अनार्य कहकर उसने किसीको अपने घरसे बाहर नहीं निकाला; असंगत कहकर उसने किसीकी हँसी नहीं उडाई। भारतने सबको ग्रहण कर लिया—सब कुछ स्वीकार कर लिया। इतना ग्रहण करके भी भारतवर्ष यह नहीं भूला कि आत्मरक्षाके लिए, इस समूहके भीतर, हर एकको अपना अधिकार, अपनी व्यवस्था, अपनी शृंखला स्थापित करनेकी आवश्यकता है। लड़ाईके मैदानमें पशु जैसे छोड़ दिये जाते हैं उसी तरह इन सबको, एकको दूसरेके ऊपर, छोड़ देनेसे काम नहीं चल सकता। उसने अच्छी तरह समझ लिया कि इनको नियम-निर्माण द्वारा अलग अलग रखकर एक ही मूल-भावमें बाँध रखना—मिला रखना—आवश्यक है। सामग्री चाहे जहाँकी हो, यह शृंखला—यह व्यवस्था—भारतवर्षकी ही है।

यूरप, गैरको दूर करके—उत्सन्न करके—अपने समाजको निरापद रखना चाहता है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड और केप-कलोनीमें आज तक हम इसीका परिचय पा रहे हैं। यूरपकी इस लालसाका कारण भी है। कारण यही है कि उसके निजके समाजमें एक सुविहित शृंखलाका भाव नहीं है। वह अपने ही भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंको समाजमें यथोचित स्थान नहीं देसकता। उसके समाजके जो अङ्ग हैं उनमेंसे

अनेक ऐसे हैं जो समाजके लिए भार हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें वह बाहरके लोगोंको अपने समाजमें किस जगह स्थान दे सकता है ? जहाँ घरके ही लोग हिस्से-बाँटके लिए उपद्रव मचा रहे हैं वहाँ बाहरके आदमीको कहाँ जगह मिल सकती है ? जिस समाजमें शृंखला है, ऐक्यका विधान है, सबके लिए अलग अलग स्थान और अधिकार है, वही समाज सहजमें दूसरेको अपना बना सकता है। या तो दूसरेको मार काट कर, भगाकर, अपने समाज और सभ्यताकी रक्षा की जा सकती है, और या दूसरेको अपने नियमोंसे संयत बनाकर सुविहित शृंखलामें उसके लिए स्थान देकर। यूरपने इनमेंसे पहली प्रणाली पसंद करके सारे संसारके साथ विरोधका द्वार खोल रक्खा है। परन्तु भारतवर्षने दूसरा ढँग पसंद करके क्रमशः धीरे धीरे सबको 'अपना कर लेनेकी चेष्टा की है। यदि शान्ति-धर्म पर श्रद्धा हो, यदि धर्म ही मानुषी सभ्यताका चरम आदर्श माना जाय, तो भारतहीका ढँग श्रेष्ठ और अच्छा कहा जा सकता है।

परायेको अपना कर लेनेमें प्रतिभाकी जरूरत हुआ करती है। विख्यात कवि शेक्सपियरने कहाँसे क्या लिया, इसका अनुसन्धान करने बैठिए तो अनेक भाण्डारोंमें उसके प्रवेशका अधिकार आविष्कृत हो सकता है। फिर उसकी इतनी प्रशंसा क्यों ? प्रशंसाका कारण यह है कि उसमें परायेको अपना बना लेनेकी शक्ति थी। इस शक्तिसे ही वह इतना लेभी सका। अन्यके भीतर प्रवेश करनेकी शक्ति और अन्यको सम्पूर्णरूपसे अपना बना लेनेकी करामात ही प्रतिभाका सर्वस्व-प्रतिभाकी खूबी है। भारतवर्षमें हम वही प्रतिभा विद्यमान पाते हैं। भारतने विना संकोचके अन्यके भीतर प्रवेश किया है और अनायास ही अन्यकी सामग्रीको अपने ढँग पर अपना लिया

है। विदेशी लोग जिसे मूर्त्ति-पूजा या बुतपरस्ती कहते हैं उसे देख-कर भारतवर्ष डरा नहीं; उसने उसे देखकर नाक-भौं नहीं; सिकोड़ी भारतवर्षने पुलिन्द, शबर, व्याध आदिसे भी बीभत्स सामग्री ग्रहण करके उसे शिव ( कल्याण ) बना लिया है—उसमें अपना भाव स्थापित कर दिया है—उसके भीतर भी अपनी आध्यात्मिकताको अभि-व्यक्त कर दिखाया है। भारतने कुछ भी नहीं छोड़ा; सबको ग्रहण करके, अपना बना लिया है।

भारतका यह ऐक्यविस्तार और शृंखला-स्थापन केवल समाजकी व्यवस्थाहीमें नहीं, धर्मनीतिमें भी देखा जाता है। गीतामें ज्ञान, प्रेम और कर्मके बीच सामञ्जस्य स्थापित करनेकी जो चेष्टा देख पड़ती है वह भी विशेषरूपसे भारतवर्ष ही की है। यूरपमें 'रेलिजन' नामसे जो शब्द प्रसिद्ध है उसका ठीक ठीक अनुवाद भारतकी किसी भी भाषामें नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि भारतने धर्मसे मनका सम्बन्ध कभी टूटने नहीं दिया। हमारे बुद्धि-विश्वास आच-रण, हमारे इहलोक और परलोक सबमें 'धर्म' का धागा पिरोया हुआ है। जैसे हाथका जीवन, पैरका जीवन, मस्तकका जीवन, पेटका जीवन, अलग अलग नहीं, वैसे ही विश्वासका धर्म, आच-रणका धर्म, रविवारका धर्म, अन्य छः दिनोंका धर्म, गिरजेका धर्म और घरका धर्म अलग अलग नहीं हो सकता। भारतने नित्य और नैमित्तिक धर्म मानकर भी उन्हें एक दूसरेसे अलग नहीं माना। भारतका जो धर्म है वह उसके सारे समाजका धर्म है। उसका मूल पृथ्वीके नीचे है और सिर आकाशके भीतर। भारतने उसके सिर और पैरोंको अलग अलग नहीं देखा। भारतने धर्मको द्युलोक-भूलोक-व्यापी, मनुष्यके सारे जीवनमें व्याप्त, एक बड़े भारी वनस्पतिके रूपमें देखा है।

भारतके सच्चे इतिहाससे यही सिद्ध होगा कि पृथ्वीके सारे सभ्यसमाजोंमें भारतवर्ष ही 'अनेकको एक करने' का आदर्श बनकर विराजमान है। भारतने अनेक प्रकारकी बाधा-विपत्ति और दुर्गति-सुगतिमें, विश्वमें और अपनी आत्मामें, 'एक' का अनुभव करके उस एकको अनेक (विचित्रताओं) में स्थापित किया है—ज्ञानके द्वारा उसका आविष्कार करके, कर्मके द्वारा उसकी प्रतिष्ठा, प्रेमके द्वारा उसकी उपलब्धि और जीवनके द्वारा उसका प्रचार किया है। हम, अपने सच्चे इतिहासमें ध्यान लगाकर, जब भारतमें इस सनातन भावका अनुभव करेंगे तभी 'अतीत' के साथ 'वर्त्तमान' का विच्छेद मिट जायगा।
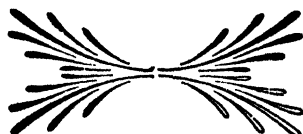
# नया वर्ष।

( बोलपुरके शान्तिनिकेतन आश्रममें पठित। )

आजकल हम लोगोंके निकट 'कर्म' का गौरव अधिक है। हाथके पास हो या दूर हो, दिनमें हो या रातको हो, काम करना ही होगा। आजकल अशान्त अस्थिर चित्तसे हम यही ढूँढ़ते हैं कि क्या करें, क्या करें,—कहाँ मरना होगा—कहाँ आत्मत्याग करना होगा। यूरोपमें लगाम पहने हुए मरना एक गौरवकी बात समझी जाती है। काम न हो, काम हो, बेकामका काम न हो, जिस तरह हो, जीवनके आखरी दम तक दौड़धूप करते—जोशके साथ हाथ-पैर चलाते मरना होगा। जब किसी जातिको इस कर्म-चक्रमें घूमनेका चसका लग जाता है, तब फिर पृथ्वीमें शान्ति नहीं रहने पाती। तब, दुर्गम हिमालयकी चोटी पर जो रोएँदार बकरे अबतक बेखटके जिन्दगी बिता रहे थे, वे अकस्मात् शिकारीकी गोलीसे मरने लगते हैं; सील और पेंगुयिन पक्षी, जो अबतक विश्वासके साथ सुनसान बरफके सागरमें बिना विरोधके जीनेका सुख भोग रहे थे, उन बेचारोंके खूनसे एकाएक निष्कलङ्क स्वच्छ बरफ लाल हो उठती है। न-जानें कहाँसे सौदागरोंकी तोपें शिल्प-चतुर प्राचीन चीनके गलेमें अफीमके गोले बरसाने लगती हैं, और अफरीकाकी निर्जर जँगलोंसे ढकी हुई सियाही; सभ्यताके वज्रपातसे फटकर चीखती हुई प्राण त्याग करती है।

इस आश्रममें, निर्जन प्रकृतिके बीच चुपचाप एकाग्र होकर बैठनेसे हृदयमें इस बातका स्पष्ट अनुभव होता है कि 'होना' ही जगत्का चरम या परम आदर्श है; 'करना' नहीं। प्रकृतिमें कर्मकी सीमा नहीं है; किन्तु प्रकृतिको देखो, वह उस कर्मको आड़में रखकर अपनेको 'होने' के रूपमें प्रगट करती है। मैं जब प्रकृतिके मुख पर दृष्टि डालता हूँ तभी देखता हूँ कि उसमें क्लेश और थकावटका कोई चिह्न नहीं है; वह जैसे किसीका निमन्त्रण पाकर उससे मिलनेके लिए सजधजकर सुविस्तृत नील आकाशमें आरामसे बैठी हुई है। इस संसार भरकी गृहिणीकी पाकशाला कहाँ है? धान कूटनेका घर कहाँ है? और किस भंडारेके घरमें इसके विचित्र आकारके बरतन पाँतिकी पाँति सजाये हुए रक्खे हैं? फूल-फल-पत्तियाँ इसके गहने जान पड़ते हैं, इसका कार्य ही इसकी लीला जान पड़ता है, इसकी गति देखकर नृत्यका भ्रम होता है और इसकी चेष्टा उदासीनताके समान जान पड़ती है। प्रकृतिने घूमते हुए चक्रोंको नीचे छिपाकर और स्थितिको ही गतिके ऊपर रखकर सदासे अपनेको प्रकाशमान रक्खा है। उसने अविराम कर्मके वेगमें अपनेको अस्पष्ट नहीं बनाया, और न संचित हुए कर्मोंके ढेरमें अपनेको ढक ही दिया है।

इस कर्म्मके चारों ओर अवकाशका होना, इस (कर्मकी) चंचलताको (अवकाशकी) ध्रुव-शान्तिके द्वारा मण्डित कर रखना ही प्रकृतिकी नित्य नवीनताका रहस्य है। यह केवल नवीनता ही नहीं, बरन् यही उसका बल है।

भारतवर्षने उस प्रकृतिके प्रातःकालीन अरुणवर्ण आकाशसे, सूखे और धूसर मैदानोंसे, चमकती हुई किरणोंकी जटाओंसे मण्डित विराट् मध्याह्नसे, और उसकी कसौटी सरीखी अँधियारी

सन्नाटेकी रातसे यह उदार शान्ति, यह विशाल निस्तब्धता अपने हृदयके भीतर प्राप्त की है। भारतवर्ष कर्मका किंकर नहीं है।

सब जातियोंका स्वाभाविक आदर्श एक नहीं है। इसके लिए, मेरी समझमें, क्षोभ होना या पछताना बेकार और बेमतलब है। भारतवर्षने मनुष्यका उल्लंघन करके कर्मको बड़ा नहीं बनाया। फल-कामना-रहित कर्मकी महिमा बखानकर उसने वास्तवमें कर्मको संयत ही कर लिया है। फलकी कामना उड़ा देना मानों कर्मरूपी नागके जहरीले दाँत उखाड़ डालना है। इस उपायसे मनुष्य कर्मके ऊपर भी अपनेको सजग-सचेत करनेका अवकाश पाता है; अर्थात् कर्मके नशेमें अपनी स्थितिको भूल नहीं जाता--सोच समझकर चलता है। इसीसे कहते हैं कि हमारे देशका चरम लक्ष्य 'होना' ही है; 'करना' तो केवल उपलक्ष्य मात्र है।

विदेशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे भारतवर्षकी यह प्राचीन निस्तब्धता हिल उठी है; अर्थात् निस्तब्ध एकाग्र भारतवर्ष चञ्चल हो उठा है। मेरी समझमें इससे हमारा बल नहीं बढ़ता; उलटे हमारी शक्ति क्षीण होती जा रही है। इससे दिन-दिन हमारी निष्ठा, अर्थात् विश्वास विचलित हो रहा है; हमारे चरित्रका संगठन नहीं होता, वह टूटता बिखरता जाता है; हमारा चित्त चंचल और हमारी चेष्टायें व्यर्थ हो रही हैं। पहले भारतवर्षकी कार्यप्रणाली (काम करनेका ढँग) अत्यन्त सहज-सरल, अत्यन्त शान्त, तथापि अत्यन्त दृढ़ थी। उसमें किसी प्रकारका आडम्बर या दिखावा न था। उसमें शक्तिका अनावश्यक अपव्यय नहीं होता था। सती स्त्री अनायास ही पतिकी चिता पर चढ़ जाती थी, सेनाका सिपाही चने चबाकर समय पर उत्साहके साथ युद्धभूमिमें जाता और लड़ता था। उस समय आचारकी रक्षाके

लिए सब प्रकारकी अड़चनें उठाना, समाजकी रक्षाके लिए भारीसे भारी दुःख भोगना और धर्म्मकी रक्षाके लिए प्राण तक दे देना बहुत ही सहज था। निस्तब्धता या एकाग्रताकी यह अद्भुत शक्ति इस समय भी भारतमें संचित है; हम लोग आप ही उसको नहीं जानते। हम इने-गिने शिक्षाचंचल नवयुवक इस समय भी दरिद्रताके कठिन बलको, मौनके स्थिर जोशको, निष्ठाकी कठोर शान्तिको और वैराग्य अर्थात् अनासक्तिकी उदार गम्भीरताको अपनी शौकीनी, अविश्वास, अनाचार और अन्ध अनुकरणके द्वारा इस भारतवर्षसे दूर नहीं कर सके हैं। इस मृत्युके भयसे रहित आत्मगत शक्तिने संयम, विश्वास और ध्यानके द्वारा भारतवर्षको उसके मुखकी कान्तिमें सुकुमारता, अस्थि-मज्जामें कठिनता, लोकव्यवहारमें कोमलता और स्वधर्मकी रक्षामें दृढता दी है। इस शान्तिमयी विशाल शक्तिका अनुभव करना होगा—एकाग्रताके आधार भूत इस भारी कठिनताको जानना होगा। भारतके भीतर छिपी हुई यह स्थिर शक्ति ही अनेक शताब्दियोंसे, अनेक दुर्गतियोंमें, हम लोगोंकी रक्षा करती आती है। याद रक्खो, समय पड़ने पर यह दीनहीनवेशवाली, आभूषणहीन, वाक्यहीन, निष्ठापूर्ण शक्ति ही जागकर सारे भारतवर्षके ऊपर अपनी अभयदायक मंगलमय बाँहकी छाँह करेगी। अँगरेजी कोट, अँगरेजोंकी दूकानोंका सामान, अँगरेज मास्टरोंकी गिटपिट बोलीकी पूरी पूरी नकल—यह कुछ उस समय नहीं रहेगा; किसी काम नहीं आवेगा। हम आज जिसका इतना अनादर करते हैं कि आँख उठाकर भी नहीं देखते; जिसे इस समय हम जान ही नहीं पाते; अँगरेजी स्कूलोंके झरोखोंमेंसे जिसकी सँवार सिंगारसे रहित झलक देख पड़ते ही हम त्यौरी बदलकर मुँह फेर लेते हैं; वही सनातन महान् भारतवर्ष है। वह हमारे

व्याख्यानदाताओंके विलायती ढँगके ताली पीटनेके ताल पर हर एक सभामें नाचता नहीं फिरता, वह हमारे नदीतट पर कड़ी धूपसे भरे भारी सुनसान मैदानमें केवल कोपीन पहने कुशासन पर अकेला चुपचाप बैठा है। वह प्रबल भयानक है, वह दारुण सहनशील है, वह उपवास व्रत धारण किये हुए है। उसके दुर्बल हड्डियोंके ढाँचेमें प्राचीन तपोवनकी अमृत, अशोक, अभय होमकी अग्नि अब भी जल रही है। यदि कभी आँधी आवेगी तो आजकलका यह बड़ा आडम्बर, डींग, तालियाँ पीटना और झूठी बातें बनाना—जो कि हमारा अपना ही रचा हुआ है, जिसे हम भारतवर्षभरमें एकमात्र सत्य और महान् समझते हैं, किन्तु यथार्थमें जो मुँहजोर चञ्चल और उमड़े हुए पश्चिम-सागरकी उगली हुई फेनकी राशि है—इधर उधर उड़ जायगा; दिखलाई भी न पड़ेगा। तब हम देखेंगे कि इसी अचल शक्तिधारी सन्यासी ( भारतवर्ष ) की तेजसे भरी आँखें उस दुर्दिनमें चमक रही हैं; इसकी भूरी जटायें उस आँधीमें फहरा रही हैं। जब आँधीके हाहाकारमें अत्यन्त शुद्ध उच्चारणवाली अँगरेजीकी वक्तृतायें सुनाई न पड़ेंगी, उस समय इस सन्यासीके वज्रकठिन दाहिने हाथके लोहेके कड़ेके साथ बजते हुए चिमटेकी झनकार आँधीके शब्दके ऊपर सुनाई पड़ेगी। तब हम इस संग-हीन एकान्तवासी भारतवर्षको जानें और मानेंगे। तब जो निस्तब्ध है उसकी उपेक्षा नहीं करेंगे; जो मौन है उस पर अविश्वास नहीं करेंगे; जो विदेशकी बहुतसी विलास-सामग्रीको तुच्छ समझकर उसकी ओर नजर नहीं करता उसको दरिद्र समझकर उसका अनादर नहीं करेंगे। हम हाथ जोडकर उसके आगे बैठेंगे और चुपचाप उसके चरणोंकी रज शिर पर धारण कर स्थिरभावसे घर आकर विचार करेंगे।

आज नवीनवर्षमें इस शून्य मैदानके बीच हम लोग भारतवर्षका और एक भाव अपने हृदयमें ग्रहण करेंगे। वह भाव और कुछ नहीं, भारतवर्षका एकाकित्व अर्थात् अकेलापन है। यह अकेलेपनका अधिकार बहुत बड़ा अधिकार है। इसे पैदा करना होता है। इसको पाना और उससे अधिक इसकी रक्षा करना कठिन है। हमारे बाप-दादे यह अकेलापन भारतवर्षको दे गये हैं। यह महाभारत और रामायणकी तरह हमारी जातीय सम्पत्ति है।

सभी देशोंमें देखा जाता है कि जब कोई अपरिचित विदेशी यात्री अपूर्व पहनावेके साथ आकर उपस्थित होता है तब वहाँके लोगोंको ऐसा कौतूहल होता है कि वे पागलसे हो उठते हैं—उसे घेरकर प्रश्न पर प्रश्न कर, खोद बिनोद कर, सन्देह कर हैरान कर डालते हैं। किन्तु भारतका यह नियम नहीं है। भारतवासी ऐसे अपरिचित अजनवीकी ओर अत्यन्त सहज भावसे देखता है—न उसको धक्का मारता है और न उसके धक्के खाता है। चीना यात्री फाहियान और हुएनसांग जैसे आसानीके साथ, आत्मीय स्वजनकी तरह, भारत भरमें भ्रमण कर गये हैं वैसे वे यूरोपकी यात्रा कभी न कर पाते। धर्मका एका बाहर नहीं दिखाई देता। जहाँ भाषा, आकार पहनावा ओढ़ावा, सभी भिन्न हैं, वहाँ कौतूहलके निठुर आक्रमणसे पग-पग पर बचकर चलना सर्वथा असाध्य है। किन्तु भारतवर्षकी बात ही और है। वह अकेला और अपनेमें मग्न है। वह अपने चारों ओर एक प्रकारकी चिरस्थायी निर्जनता धारण किये हुए है। यही कारण है कि कोई एकदम उसके शरीर पर आकर नहीं गिर पड़ता। अपरिचित विदेशी लोगोंको उसके पाससे निकल जानेके लिए काफी जगह मिल जाती है। जो लोग सदा भीड़ लगाकर, दल बाँध कर,

रास्ता रोक कर बैठे रहते हैं उन लोगोंको बिना धक्का दिये और बिना उनके धक्के खाये नये आदमीका उधरसे निकल जाना संभव ही नहीं। नया आदमी जब ऐसी मण्डलीमें पड़ जाता है तब उसे सब प्रश्नोंका उत्तर देकर—सब परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होकर तब कहीं एक कदम आगे बढ़नेका अवकाश मिलता है। किन्तु भारतवर्षका आदमी जहाँ रहता है वहाँ वह बाधाकी रचना नहीं करता—वह स्थानके लिए खींचतान नहीं करता। उसके अकेलेपनके अवकाशको कोई छीन नहीं सकता। चाहे ग्रीक हो, चाहे अरबी हो और चाहे चीना—वह किसीको, जंगलकी तरह, नहीं रोकता। वह एक बड़े वृक्षकी तरह, अपने नीचे चारों ओर, रुकावटसे रहित स्थान छोड़ देता है। यदि कोई उसके पास आकर आश्रय ग्रहण करता है तो उसे छाया देता है; और, अगर कोई पास आकर चला जाता है तो उससे कुछ कहता नहीं।

इस अकेलेपनका महत्त्व जिसके चित्तको अपनी ओर नहीं खींचता वह भारतवर्षको ठीक तौरसे पहचान ही नहीं सकता। कई शताब्दियोंसे, प्रबल विदेशी लोग उन्मत्त बराहकी तरह अपने दाँतोंसे भारतवर्षको, एक सिरेसे दूसरे सिरे तक, खोदते फिरते रहे; उस समय भी भारतवर्ष अपने बहुव्यापक अकेलेपनसे ही सुरक्षित था—कोई भी उसके मर्म्मस्थान पर चोट नहीं पहुँचा सका। हमारा भारतवर्ष युद्ध और विरोध न करके भी अपनेको अपनेमें अनायास ही स्वतन्त्र कर रखना जानता है। इसके लिए अबतक हथियारबन्द पहरेदारकी जरूरत नहीं हुई। जैसे कर्ण स्वाभाविक कवचसहित पैदा हुए थे वैसे ही भारतवर्षकी प्रकृति भी एक स्वाभाविक बेठनसे लिपटी हुई है। सब प्रकारके विरोध और विप्लवमें भी, एक प्रकारकी न तोड़ी जा सकनेवाली शान्ति उसके साथ साथ अटल रूपसे

रहती है। इसीसे वह टूट फूट कर गिर नहीं पड़ता, किसीमें मिल नहीं जाता, कोई उसको लील नहीं सकता। वह जोशसे जाती हुई भारी भीड़में भी अकेला विराजमान है।

यूरोपके लोग भोग तो अकेले, परन्तु काम दल बाँध कर करते हैं। भारतवर्षमें ठीक इसका उलटा होता है। भारतवर्ष भोग तो करता है बाँट कर, पर काम करता है अकेला। यूरोपकी धनसम्पत्ति और सुख-आराम व्यक्तिगत है; किन्तु उसका दान-ध्यान, स्कूल-कालेजकी स्थापना, धर्म्म-चर्चा, बनिज-बेपार सब दल बाँध कर होता है। पर हमारे यहाँ अपने सुख, अपनी सम्पत्तिको कोई अकेले नहीं भोगता— हमारे यहाँ दान-ध्यान, पढ़ना-पढ़ाना और कर्तव्य-पालन ही अकेले किया जाता है।

हमारे यहाँके इस भावको चेष्टा करके नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा करना व्यर्थ है। ऐसी चेष्टा करनेसे भी कुछ विशेष फल नहीं हुआ; और न आगे ही होगा। यहाँ तक कि मैं तो बनिज-बेपारमें भी एक जगह बड़ी भारी पूँजी जमा करके उसके द्वारा छोटी छोटी शक्तियोंको बल-पूर्वक निष्फल कर डालनेको अच्छा नहीं समझता। भारतवर्षके जुलाहे जो रोजगारसे खाली हो रहे हैं, इसका कारण उनका एकत्र होनेकी चेष्टा न करना नहीं है। उनका अपने औजारोंकी उन्नति न करना ही इसका कारण है। अगर करघा अच्छा हो, और हरएक जुलाहा अगर काम करे, कमाकर खाय, सन्तोषके साथ जिन्दगी बितावे, तो समाजमें यथार्थ दरिद्रता और ईर्षाका विष जमने ही न पावे और मंचेस्टर अपने भारी कल-कारखानोंसे भी इनके मुँहकी रोटी न छीन सके। कल-पुरजोंको बहुत ही सीधे सादे और

सहज बनाकर कामको सबके करने लायक बना देना—पेटभर अन्नको सबके लिए सुलभ कर देना ही पूर्वीय आदर्श है। यह बात हमें याद रखनी चाहिए।

चाहे मनोरञ्जन हो, चाहे शिक्षा हो और चाहे कोई हितकारी काम हो, सभीको एकदम पेचीला और कष्टसाध्य बना डालनेसे लाचार होकर सम्प्रदाय या दलके हाथमें पड़ना होता है। इससे यह होता है कि कामकी तैयारी और जोश लगातार इतना बढ़ता जाता है कि मनुष्य उसीसे ढक जाता है—घिर जाता है। चढ़ाऊपरीके निठुर धक्केसे काम करनेवाले मजदूरोंकी हालत मेशीनसे भी बुरी हो जाती है। हम ऊपरसे सभ्यताका बड़ा आयोजन—भारी धूमधाम—देख कर आश्चर्य्यमें आ जाते हैं। उसके नीचे जो दारुण नरमेध यज्ञ दिनरात किया जा रहा है वह छिपा ही रहता है। उसे हम नहीं देख पाते। परन्तु विधातासे वह नरबलि नहीं छिप सकती। बीच बीचमें, सामाजिक भू-कम्पसे उसके परिणामकी खबर मिला करती है। यूरोपमें बड़ा दल छोटे दलको पीस डालता है, बड़ा रुपया छोटे रुपयेको उपवाससे क्षीण करके अन्तको गोलीकी तरह निगल जाता है।

कामके उद्योगको बेहद बढ़ा कर, कामको भारी बना कर, कामको कामसे भिड़ा देनेमें उससे जो अशान्ति और असन्तोषका विष उबल पड़ता है उसकी आलोचना मैं इस समय नहीं करना चाहता। मैं इस समय यही सोच रहा हूँ कि इन काले धुएँकी साँस लेनेवाले दानव सरीखे कारखानोंके भीतर, बाहर और चारों ओर जिस तरह मनुष्योंको घूमघाम कर—हिर फिर कर—रहना होता है उससे उनका एकान्तमें रहनेका सहज अधिकार नहीं रहता; अकेलेपनकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। न रहता है स्थानका अवकाश, न रहता

है समयका अवकाश और न रहता है सोचने विचारनेका अवकाश। इस प्रकार अपने मनको ही अपने पास रहनेका बिलकुल अभ्यास नहीं रहता। फल यह होता है कि कामसे ज़रा छुट्टी पाते ही शराब पीकर, ऐश और खेल तमाशोंमें मस्त होकर जबरदस्ती अकेलेपनके हाथसे छुटकारा पानेकी चेष्टा की जाती है। चुपचाप रहनेकी, निस्तब्धभावसे रहनेकी, आनन्दमें रहनेकी, शक्ति फिर नहीं रहती।

जो लोग मेहनत–मजदूरी करते हैं उनकी यह दशा है। इनके सिवा जो लोग भोग करनेवाले अमीर हैं वे भी भोगकी नित-नई उत्तेजनामें चूर हैं। वे निमन्त्रण, खेल, नाच, घुडदौड़, शिकार और सफरकी आँधीमें सूखे पत्तोंकी तरह चक्कर खाया करते हैं। हिंडोलेमें बैठा हुआ आदमी, उसके चक्करमें, अपनेको या सारे जगत्को ठीकठीक नहीं देख पाता—उसे सब धुँधला दिखाई पड़ता है। अगर दम भरके लिए हिंडोलेका घूमना थम जाता है तो वह घड़ी भरका अपनेको देखना और विशाल विश्वसे मिलनेका लाभ उसे असह्य जान पड़ता है। यही दशा यूरोपके अमीरोंकी है।

किन्तु भारतवर्षने भोगके घनेपनको भाईबन्दों और पास-परोसियोंमें बाँटकर हल्का कर दिया है और कामकाजकी पेचीली उलझनको सुलझाकर उसे आदमी-आदमीमें बाँट दिया है—अर्थात् जो जिस योग्य आदमी है उसको वह काम सौंप दिया है। ऐसा करनेसे यह होता है कि भोग, कामकाज और विचार करते रहने पर भी हरएकको मनुष्यत्वकी चर्चा करनेका यथेष्ट अवकाश बना रहता है। हमारे यहाँका बेपारी भी मन लगाकर कथा सुनता है और कामकाज करता है, और कारीगर या मेहनत-मजदूरी करनेवाला भी निश्चिन्त होकर भक्तिपूर्वक रामायणकी चौपाइयाँ गाता है। यह अवकाशकी अधिकता घरको, मनको और समाजको पापकी

गंदी घनी भाफसे बचाकर बहुत कुछ निर्मल और उज्ज्वल बनाये रखती और मलिनताके कूड़ेको अपने शरीरके पास ही जमने—ढेर होने—नहीं देती। और देशोंमें परस्परकी छीन-झपट और रगड़-झगड़से जो काम-क्रोध आदि शत्रुओंका दावानल जल उठता है, वह, भारत-वर्षमें शान्त रहता है–नहीं जलता।

भारतवर्षके इस अकेले रहकर काम करनेके व्रतको यदि हममेंसे हरएक ग्रहण करे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस बारका नया वर्ष आशीर्वादकी वर्षा और कल्याणके शस्य (अन्न) से परिपूर्ण होगा। हम लोग यदि दल बाँधने, रुपया जुटाने और सङ्कल्पको बड़ा बनानेकी बहुत दिनों तक अपेक्षा न करके, जो जहाँ है वह वहीं—अपने गाँवमें, महल्लेमें, मैदानमें, घरमें—स्थिर शान्त चित्तसे धैर्य्यके साथ, सन्तोषके साथ, पुण्यकार्य्य—मङ्गलकार्य्यका श्रीगणेश कर दें; आडम्बरके अभावसे खिन्न न होकर, दरिद्र आयोजनसे सङ्कोच न कर, देशी भावसे लज्जित न होकर, झोपड़ीमें रह कर, जमीन पर बैठकर, अँगौछा पहन कर सीधेसादे सहज भावसे काम करनेमें लग जायँ; धर्मके साथ कर्मको और कर्मके साथ शान्तिको जोड़े रहें; चातक पक्षीकी तरह विदेशियोंकी करतालिध्वनि-वर्षाके लिए ऊपरकी ओर गर्दन उठाये ताकते न रहें; तभी भारतवर्षके भीतरी सच्चे बलको पाकर बलवान् बन सकेंगे। हमको याद रखना चाहिए कि हम बाहरसे धक्के पासकते हैं; बल नहीं पासकते। अपने बलके सिवा दूसरेसे बल नहीं मिल सकता। भारतवर्ष जिस जगह पर अपने बलसे बलवान् है उसी स्थानको अगर हम ढूँढ़ लें और उस पर दखल भी कर लें, तो दम भरमें हमारी सारी लज्जा दूर हो जायगी।

भारतवर्षने छोटे—बड़े, स्त्री-पुरुष, सभीको मर्यादा दी है। और, उस मर्यादाको उसने दुराकांक्षाके द्वारा नहीं पाया है। विदेशी लोग

बाहरसे उस मर्यादाको नहीं देख पाते। जिस आदमीने जिस कामके करनेवाले माता-पिताके यहाँ जन्म लिया है, जो काम जिसके लिए सहज और सुलभ है, उसी कामके करनेमें उसका गौरव है। उस कामको न करनेहीमें उसकी मर्यादा न रहेगी। यह मर्यादा ही मनुष्यत्वको बनाये रखनेका एक मात्र उपाय है। अवस्थाकी विषमता ( अर्थात् सबकी एक सी अवस्था न होना ) सदा पृथ्वी पर रहे-गी ही; उसे कोई नहीं मिटा सकता। ऊँची अवस्था बहुत ही कम लोगोंको नसीब होती है। शेष सब लोग अगर उन थोड़ेसे हैसिय-तदार या अमीर लोगोंके भाग्यसे अपने भाग्यका मिलान करके उससे अपनी बेइज्जती समझें तो वे अपनेको दीन समझनेके कारण वास्तवमें छोटे हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विलायतके मजदूर प्राणपणसे काम करते हैं; किन्तु उस कार्य्यसे उनको मर्यादा नहीं मिलती। वे अपनेको हीन समझनेके कारण सचमुच ही हीन हो जाते हैं। इस प्रकार यूरोपके पन्द्रह आने आदमी दीनता और ईर्षामें पड़कर व्यर्थकी चेष्टामें डावाँडोल हो रहे हैं। यही कारण है कि यूरोपियन यात्री यहाँ आकर अपने यहाँके गरीबों और नीचे दर्जेके लोगोंके हिसाबसे यहाँके गरीबों और नीचे दर्जेके लोगोंकी अवस्था पर विचार करता है। वह सोचता है कि यूरोपके गरीबों और नीचे दर्जेके लोगोंको जैसा दुःख और अपमान भोगना पड़ता है वैसा ही दुःख और अपमान यहाँके गरीब और नीचे दर्जेके लोग भी भोगते हैं। किन्तु यहाँ यह बात बिल्कुल नहीं है। भारतवर्षमें कर्म-भेद, श्रेणी-भेद अच्छी तरह नियमित और निर्दिष्ट है। इस कारण यहाँके ऊँचे दर्जेके लोग अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए नीचे दर्जेके लोगोंको अपमानित करके उनको निकाल बाहर नहीं करते। ब्राह्म-

णका लड़का भी वयोवृद्ध चमारको काका कहता है। सीमा-रेखाकी सहज ही रक्षा होती है; इसीसे हमारे यहाँ छोटे-बड़ेमें परस्पर जाना-आना और हृदयसे हृदयका सम्बन्ध बाधा-हीन है। हमारे यहाँ बड़ोंके बेगानेपनका बोझा छोटोंकी हड्डी-पसलीको चूर चूर नहा कर देता। पृथ्वीमें यदि छुटपन और बड़ेपनकी विषमता अवश्य होनेकी चीज है, और यदि स्वभावतः सर्वत्र सब प्रकारके छोटोंकी संख्या ही अधिक और बड़ोंकी संख्या कम है तो स्वीकार करना होगा कि समाजके इन अधिकांश छोटे लोगोंको बेइज्जतीकी लज्जासे बचानेका जो उपाय भारतने निकाला है वह बहुतही श्रेष्ठ है।

यूरोपमें इस प्रकारकी बेइज्जतीका असर इतना फैल गया है कि वहाँकी कुछ नई स्त्रियाँ अपने स्त्री होनेको ही लज्जाकी बात समझने लगी हैं। गर्भधारण और अपने स्वामी या बालबच्चोंकी सेवा करनेको भी वे लज्जाकी—बेइज्जतीकी बात समझती हैं। यूरोपमें इस भावका जगह ही नहीं मिलती कि मनुष्य बड़ा है; कोई खास काम बड़ा नहीं है; मनुष्यत्वको बनाये रखकर चाहे जो काम किया जाय, उसमें अपमान नहीं है; गरीबी लज्जाकी बात नहीं है, सेवा करना लज्जाकी बात नहीं है, अपने हाथसे काम करना लज्जाकी बात नहीं है; हरएक अवस्थामें, हरएक काम, इज्जतके साथ सिर ऊँचा करके किया जा सकता है। यही कारण है कि यूरोपमें, जो अधिकारी है वह भी और जो अधिकारी नहीं है वह भी, सभी सर्वश्रेष्ठ बननेके लिए समाजमें अत्यन्त असफलता, अपार व्यर्थ काम और आत्माकी हत्या करनेवाले उद्योगकी सृष्टि करते रहते हैं। घरमें झाड़ू देना, जल भरकर लाना, मसाला पीसना और इष्टमित्र अभ्यागत आदि सबकी सेवा और सत्कार करनेके बाद अन्तमें आप भोजन करना—ये काम यूरोपकी

दृष्टिमें अत्याचार और अपमानकी बातें हैं। मगर हमारी दृष्टिमें ये काम गृहलक्ष्मियों ( स्त्रियों ) के उन्नत अधिकार हैं। इन्हींके करनेमें वे पुण्यभागिनी होती हैं; उनको सम्मान और गौरव मिलता है। सुनते हैं कि विलायतमें जो स्त्रियाँ इन कामोंमें लगी रहती हैं वे नीचे दर्जेमें गिनी जाकर स्त्रीसमाजकी दृष्टिमें हेय हो जाती हैं। इसका कारण यही है कि कामको छोटा समझ कर उसे करनेके लिए लाचार होने-पर मनुष्य आप अपनी दृष्टिमें छोटा हो जाता है। हमारे यहाँकी देवियाँ जितना ही सेवाके कामोंमें लगती हैं—तुच्छ कामोंको पुण्य-कार्य्य समझकर करती हैं—विशेषता-रहित स्वामीको देवता मानकर उसकी भक्ति करती हैं उतना ही वे शोभा, सुन्दरता और पवित्रतासे चमक उठती हैं; उनके पुण्य-तेजसे परास्त होकर नीचता या बेइज्जती पास भी नहीं फटकती।

यूरोप कहता है कि सभी मनुष्योंको सब कुछ होनेका अधिकार है—ऐसी ही धारणा ( समझ ) में मनुष्यजातिका गौरव है। लेकिन वास्तवमें यह बात नहीं है—सभीको सब कुछ होनेका अधिकार नहीं है। इस अत्यन्त सत्य सिद्धान्तको नम्रताके साथ शुरूसे ही मान लेना अच्छा है। यदि इसे विनयपूर्वक मान लें तो फिर बेइज्जतीकी कोई बात नहीं। इस बातको और जरा खुलासा करके कहना ठीक होगा। राम-दासके घरमें श्यामदासका कोई अधिकार नहीं है—यह बात बिलकुल निश्चित है। इसी कारण रामदासके घरमें हुकूमत न चला सकनेसे श्यामदासके लिए कोई लज्जाकी बात नहीं है। किन्तु अगर श्यामदास-के सिर पर ऐसा पागलपन सवार हो कि वह रामदासके घरमें हुकूमत चलाना ही अपने लिए उचित समझे और रामदासके घरमें हुकूमत चलानेकी व्यर्थ चेष्टा करके वारम्वार विडम्बनाको प्राप्त होता रहे तो

फिर उसके नित्यके अपमान और दुःखकी सीमा नहीं रहेगी। हमारे देशमें, अपने स्थानकी नियत सीमाके भीतर, सभी लोग अपने निश्चित अधिकारकी इज्जत और शान्ति प्राप्त करते हैं। इसीसे हमारे यहाँ छोटा बड़ेको और बड़ा छोटेको, मौका पाते ही, निकाल बाहर करनेकी चेष्टा नहीं करता।

यूरोप कहता है कि यह सन्तोष—यह जीतनेकी इच्छाका अभाव—ही जातिकी मृत्युका कारण होता है। इसके उत्तरमें हमारा निवेदन यही है कि वह यूरोपियन सभ्यताकी मृत्युका कारण अवश्य हो सकता है, किन्तु हमारी सभ्यता तो उसीके आधार पर खड़ी हुई है। जो आदमी जहाज पर है उसके लिए जो नियम है वही नियम उसके लिए भी नहीं है जो कि अपने घरमें है। यूरोप अगर कहे कि सब सभ्यतायें समान हैं और विचित्रतारहित सभ्यताका आदर्श केवल यूरोपमें है तो उसकी यह शेखीकी डींग सुनते ही झटपट अपनी धन-रत्न आदि बहुमूल्य सामग्रीको टूटे सूपसे उठाकर, घरके बाहर सड़क पर, फेंक देना ठीक नहीं।

हम यह मानते हैं कि सन्तोषमें दोष है। पर, क्या अत्यन्त आकांक्षा अर्थात् बेहद हबसमें दोष नहीं है? अगर यह सच है कि अधिक सन्तोषसे जड़ता आकर काम करनेकी प्रवृत्तिको शिथिल कर देती है तो यह भी न भूल जाना चाहिए कि अत्यन्त आकांक्षाका जोश बढ़ जानेसे भी अनेकानेक अनावश्यक और दारुण काम पैदा होजाते हैं। अत्यन्त सन्तोषमें अगर रोगसे मृत्यु होती है तो अत्यन्त आकांक्षामें अपघात-मृत्यु होती है। यह बात याद रखने योग्य है कि सन्तोष और आकांक्षा, दोनोंकी मात्रा बढ़ जाना विनाशका कारण है।

इस कारण वह आलोचना छोड़कर यह स्वीकार करना ही होगा कि सन्तोष, संशय, शान्ति और क्षमा—ये सभी सर्वोच्च सभ्यताके अङ्ग हैं। इनमें चढ़ाऊपरी-रूपी चकमक पत्थरकी रगड़का शब्द और चिनगारियोंकी वर्षा नहीं है। इनमें हीरेकी शीतल शान्त ज्योति है। उस रगड़के शब्द और चिनगारियोंको इस स्थिर सत्य ज्योतिसे बढ़कर कीमती समझना कोरा जंगलीपन है। यूरोपियन सभ्यताके विश्वविद्यालयसे भी यदि ऐसा जंगलीपन उत्पन्न हो तो भी वह जंगलीपन ही है।

हमारी प्रकृतिके एकदम एकान्त कोनेमें जो अमर भारतवर्ष विराजमान है उसे आज नये वर्षके दिन मैं प्रणाम कर आया। मैंने देखा कि वह फललोलुप कर्मकी अनन्त ताडनासे मुक्त होकर शान्तिके आसन पर ध्यानमग्न अवस्थामें बैठा है। वह अनन्त अविराम भीड़भाड़की चक्कीमें पड़ा पिस नहीं रहा है। वह अपने अकेलेपनमें ही मग्न बैठा है। वह चढ़ाऊपरीकी गहरी रगड़ और ईर्षाकी कारिखसे दूर रहकर अपनी अचल मर्यादाके घेरेमें विराजमान हैं। इस कर्मवासना, जनसमूहकी रगड़ झगड़ और औरोंसे बढ़जानेके जोशसे अलग रहनेने ही सारे भारतवर्षको ब्रह्मके मार्गमें—भय, शोक और मृत्युसे रहित परम मुक्तिके मार्गमें—पहुँचाया है। यूरोपमें जिसे "फ्रीडम" कहते हैं वह मुक्ति इस मुक्तिके सामने बहुत ही तुच्छ है। वह मुक्ति चंचल, दुर्बल और कायर है। वह स्पर्द्धापूर्ण और निठुर है। वह दूसरेके बारेमें अन्धी है। वह धर्मको भी अपने समान नहीं समझती। वह सत्यको भी अपना दास बनाकर दूषित करना चाहती है। वह केवल दूसरोंपर चोट करती रहती है, और इसी कारण औरोंकी चोटके डरसे दिनरात वर्दी चपरास और अस्त्रशस्त्रसे लदी हुई बैठी रहती है। वह, अपनी रक्षाके लिए, अपने पक्षके अधिकांश लोगोंको

गुलामीकी बेड़ीमें बाँध रखती है। उसकी असंख्य सेना मनुष्यत्वसे भ्रष्ट भयानक मेशीनके सिवा और कुछ नहीं है। यह दानवी 'फ्रीडम' किसी समय भारतवर्षकी तपस्याका चरम लक्ष्य नहीं थी। इसका कारण यही है कि हमारे देशके सर्वसाधारण लोग वास्तवमें अन्य देशवालोंकी अपेक्षा स्वाधीन थे। इस समय भी, आधुनिक समयसे हमें धिक्कार मिलने पर भी, यह 'फ्रीडम' हमारे देशके लोगोंकी चेष्टाका चरम लक्ष्य कभी न होगा। यह 'फ्रीडम' हमारे देशके सर्वसाधारण लोगोंका चरम लक्ष्य न होगा तो कोई हानि नहीं है। इस फ्रीडमसे भी अत्यन्त उन्नत, विशाल और महत्त्वमय, भारतवर्षके भारी तपका सर्वस्व जो 'मुक्ति' है उसको यदि हम अपने समाजमें फिर बुला लावें—अपने हृदयके भीतर ही प्राप्त कर लें—तो भारतवर्षके नंगे पैरोंकी धूलसे पृथ्वीके बड़े बड़े राजमुकुट पवित्र होंगे।

मैं नये वर्षके विचारोंको यहीं पर समाप्त करता हूँ। आज पुरातनमें मैंने प्रवेश किया था; क्योंकि पुरातन ही चिर-नवीनताका अक्षय भाण्डार है। आज वन लक्ष्मीने नवपल्लवरूपी उत्सव-वस्त्र धारण किये हैं। पर ये वस्त्र आजके नहीं हैं। जिन महाकवि महर्षियोंने त्रिष्टुप् छन्दमें तरुणी उषाकी वन्दना की है उन्होंने भी इन चिकन मुलायम पीले-हरे वस्त्रोंसे वनलक्ष्मीको अकस्मात् सजते देखा है। उज्जयिनी पुरीके उद्यानमें, महाकवि कालिदासकी मोहित दृष्टिके आगे भी यही वायु-कम्पित पुष्प-गन्ध-पूर्ण वन-लक्ष्मीका नव-वस्त्राञ्चल बाल-सूर्यकी किरणोंसे जगमगा उठा है। नवीनतामें चिर-पुरातनका अनुभव करने-हीसे अलख अनन्त जवानीके सागरमें हमारा जीर्ण जीवन स्नान कर सकेगा। आज, इस नये वर्षके दिनमें, भारतके कई हजार पुराने वर्षोंका अनुभव कर सकनेहीसे हम लोगोंकी कमजोरी, लज्जा, लाञ्छना

और दुबिधा दूर होगी। दूसरोंसे उधार लेकर उन फूल-पत्तोंसे पेड़को सजाना ठीक नहीं। वह शोभा—वह नवीनता—आज है, कल जाती रहेगी। उस नवीनताकी अस्थिरता और विनाशको कोई रोक नहीं सकता, हम दूसरी जगहसे नवीन बल और नवीन सुन्दरता उधार लेकर अपनेको सजाना चाहते हैं। किन्तु दो घड़ीके बाद ही वह नीचताकी मालाके समान हमारे मस्तककी हँसी करावेगी। धीरे धीरे उसमेंसे फूल-पंखड़ी झड़ पड़ेगी—केवल बन्धनकी रस्सी, हमारे गलेमें, रह जायगी। विदेशका साजबाज और हावभाव हमारे शरीर पर देखते ही देखते मलिन—शोभाहीन हो जाता है। विदेशकी शिक्षा और रीति-नीति हमारे मनमें देखतेही देखते निर्जीव और निष्फल हो जाती है। इसका कारण केवल यही है कि उसके पीछे बहुत दिनोंका इतिहास नहीं है। वह असंलग्न और असङ्गत है; उसकी जड़ उखड़ी हुई है।

आज इस नये वर्षके दिन हम भारतवर्षकी चिरपुरातन सामग्रीसे ही, अपनेमें नवीनता प्राप्त करेंगे। सन्ध्याको जब विश्रामकी घण्टी बजेगी, उस समय भी यह नवीनता सूखी मालाकी तरह झड़ नहीं जायगी। उस समय हम इस अम्लान गौरव-मालाको अपने पुत्रके गलेमें आशीर्वादपूर्वक डालकर, उसको निर्भय चित्त और सरल सबल हृदयसे विजयकी राहमें भेजेंगे। निश्चय जानो, जय होगी—भारतवर्ष-हीकी जय होगी! जो भारत प्राचीन है, जो ढका हुआ है, जो विराट् है, जो उदार है, जो चुप है उसी भारतकी जय होगी! और हम, जो अँगरेजी बोलते हैं, अविश्वास करते हैं, झूठ बोलते हैं, डींग मारते हैं सो हरसाल उसी तरह समयसागरमें लीन होते जायँगे जिस तरह सागरकी लहरें उठकर उसीमें लीन हो जाती हैं। किन्तु उससे निस्तब्ध सनातन भारतवर्षकी कुछ हानि नहीं होगी। वह भस्मा-

च्छन्न मौनी भारत चौराहे पर मृगचर्म बिछाये बैठा हुआ है। हम जब अपने सारे शौकोंको पूरा करके—बेटीबेटोंको कोट—कालर—फ्रक पहना कर—कूच कर जायँगे उस समय भी वह शान्त चित्तसे हमारे पोतोंकी प्रतीक्षा करेगा। उसकी वह प्रतीक्षा व्यर्थ न होगी। वे इस सन्यासीके आगे हाथ जोड़े आकर कहेंगे—"पितामह, हमको मन्त्र दीजिए।"

यह कहेगा—"ॐ इति ब्रह्म।"

यह कहेगा—"भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।"

यह कहेगा—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।"
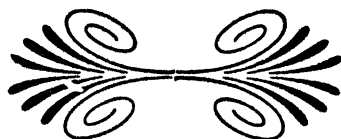
# पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता।

रासीसी विद्वान् गिजोने यूरोपियन-सभ्यताकी प्रकृतिके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह हम लोगोंके विचार और आलोचना करनेकी चीज है। पहले उन्हींका मत नीचे लिखा जाता है।

वह कहते हैं कि इस नई यूरोपियन सभ्यताके पहले, क्या एशियामें और क्या अन्यत्र, यहाँ तक कि ग्रीस रोममें भी, तत्कालीन सभ्यतामें एक प्रकारका एक-मुखी भाव दिखाई देता है। जान पड़ता है, जैसे हरएक सभ्यता एक ही मूलसे निकली है और हरएक सभ्यता एक ही भावके आधार पर टिकी हुई है। समाजके भीतर, उसके हरएक काममें, आचार-विचारमें और उसके अङ्गोंके विकासमें, उसी एक स्थायीभावका प्रभाव देख पड़ता है।

जैसे, ईजिप्त देशमें एक पुरोहितोंका शासन सारे समाज पर अधिकार जमाये बैठा था। उसके आचार-व्यवहारमें, उसके कीर्ति-स्तम्भोंमें केवल पुरोहितोंके शासनका ही प्रभाव देख पड़ता है। वैसे ही भारतवर्षमें ब्राह्मणोके शासनने सारे समाजको एक ही भावसे संगठित कर दिया था।

यह नहीं कहा जासकता कि समय समय पर, इन दोनों देशोंके समाजमें, भिन्न भिन्न शक्तियोंमें परस्पर विरोध नहीं उपस्थित हुआ; किन्तु उन शक्तियोंको उक्त शासन-कर्ताओंके आगे हार ही माननी पड़ी।

इस प्रकार एक भावकी हुकूमतसे एक देशको एक तरहका तो दूसरे देशको दूसरी तरहका फल मिला है। सारे समाजमें इसी भावकी एकता होनेके कारण ग्रीसने ऐसी तेजीसे ऐसी अपूर्व उन्नति कर ली कि देखनेवाले दंग रह गये। पृथ्वीकी और कोई जाति इतने थोड़े समयमें इतना नहीं चमक सकी। किन्तु ग्रीस देश अपनी उन्नतिकी अन्तिम सीमातक पहुँचते ही पहुँचते मानों बूढ़ा हो गया। उन्नतिके समान उसकी अवनाति भी बहुत ही जल्द हो गई। जिस मूल-स्वरूप एक-भावने ग्रीक-सभ्यतामें जान डाली थी वह मानों जाता रहा—समाप्त हो गया। और किसी नवीन शक्तिने आकर उसे बल नहीं दिया; न उसका स्थान ही ग्रहण किया।

दूसरी ओर, भारतवर्षमें क्या हुआ? ईजिप्त और भारतवर्षकी सभ्यताका मूलभाव एक होने पर भी भारतमें उसका और ही फल हुआ। भारतवर्षके उस एक मूल-भावने समाजको अचल-अटल बना रक्खा। उस मूल-भावकी सरलतासे सब कुछ जैसे एक ही ढंगका, सबसे निराला, हो गया। देशका ध्वंस नहीं हुआ, समाज कायम रहा; किन्तु कुछ भी आगे नहीं बढ़ा। साराका सारा समाज एक जगह पर मानो जकड गया।

जितनी प्राचीन सभ्यतायें हैं उनमें किसी एकका एकछत्र राज्य था। वह और किसीको अपने पास आने नहीं देता था। वह अपने चारों ओर मानों एक तरहका ‘बेड़ा’ बाँध रखता था। यह एकता, यह सरलताका भाव, साहित्यमें तथा सब लोगोंकी बुद्धि और चेष्टामें भी अपना शासन जमाये रहता था। इसी कारण प्राचीन आर्योंके धर्म और चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थोमें, इतिहासमें और काव्योंमें, सब जगह एक ही चेहरा—एक ही ढंग—दिखाई पड़ता है। उनका ज्ञान,

उनकी कल्पना, उनका जिन्दगी बितानेका ढंग और उनके कामकाज मानो एक ही साँचेमें ढले हुए हैं। यहाँ तक कि ग्रीसमें भी, वहाँ ज्ञान और बुद्धिका बहुत विस्तार हो जाने पर भी, उसके साहित्य और शिल्पमें एक प्रकारका अद्भुत एकमुखी भाव देखा जाता है।

किन्तु यूरोपकी आधुनिक नई सभ्यता ठीक इससे उलटी है। इस यूरोपकी सभ्यता पर एक बार नजर डालो, देखोगे, वह बहुत ही विचित्र, पेचीली और क्षोभको प्राप्त अर्थात् चञ्चल है। उसके भीतर समाज-तन्त्रके सभी प्रकारके मूल-तत्त्व मौजूद हैं। लौकिक शक्ति भी है और आध्यात्मिक शक्ति भी है। उसमें पुरोहित-शासन, राजशासन, प्रधान-शासन, प्रजाशासन, समाज-पद्धतिके सभी सिलसिले--सभी अवस्थायें एकमें जुड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। उसमें स्वाधीनता, ऐश्वर्य, और क्षमता (सामर्थ्यके) के सब दर्जोंने क्रमसे अपना स्थान ग्रहण कर लिया है। किन्तु ये सब विचित्र शक्तियाँ अपने अपने स्थान पर स्थिर नहीं हैं। ये आपसमें बराबर लड़भिड़ रही हैं। तथापि इनमेंसे कोई भी शक्ति ऐसी प्रबल नहीं है जो और सब शक्तियोंको दबा कर आप अकेले सारे समाज पर अपना अधिकार जमा सके। एक ही समयमें एक ही जगह, पास ही पास ये सब विरोधी शक्तियाँ अपना अपना काम कर रही हैं। किन्तु इन सब शक्तियोंमें परस्पर इतनी विभिन्नता रहने पर भी इनके भीतर एक पारिवारिक सदृशता देख पड़ती है। ये सब यूरोपियन कहकर अपना परिचय देती हैं।

यूरोपके चरित्रमें, मतमें और भावमें भी इसी प्रकारकी विचित्रता और विरोध है। यूरोपकी ये शक्तियाँ नित्यप्रति परस्पर लाँघनेकी चेष्टा करती हैं, धक्का देती हैं और सीमाबद्ध करती हैं। एक दूसरीका रूप बदल देती हैं और एक दूसरीमें घुसती हैं। एक ओर

स्वतन्त्रताकी अनन्त तृष्णा है और दूसरी ओर एकान्त अनुगामिताकी शक्ति है। एक ओर मनुष्य मनुष्यमें परस्पर अद्भुत विश्वासबन्धन है और दूसरी ओर सब बन्धनोंसे छूटकर संसारके और किसीकी ओर न देखकर अकेले अपनी इच्छाके अनुसार चलनेकी उत्कट लालसा है। यूरोपका समाज जैसा विचित्र है वैसा ही उसका मन भी विचित्र है।

उसके साहित्यमें भी वैसी ही विचित्रता है। यूरोपके साहित्यमें मनुष्यके मनकी चेष्टा बहुत तरहसे बँटी हुई है। उसके विषय विविध प्रकारके हैं। उसकी गंभीरता दूरतक जानेवाली है। यही कारण है कि यूरोपके साहित्यका बाहरी आकार और आदर्श प्राचीन साहित्यकी तरह विशुद्ध, सरल और सम्पूर्ण नहीं है। साहित्य और शिल्पमें भावकी अभि-व्यक्ति, सरलता और एकतासे ही रचनाका सौन्दर्य पैदा होता है। किन्तु वर्त्तमान यूरोपमें भाव और भावनाकी बेहद बहुतायतसे रचनाकी इस बड़ी विशुद्ध सरलताकी रक्षा करना दिनोंदिन कठिन होता जाता है।

आजकलकी इस नई यूरोपियन-सभ्यताके हरएक अंगप्रत्यंगमें हम इस विचित्र प्रकृतिको देख पाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विचित्रतामें असुविधा भी है। इसके किसी एक अंश या अंगको अलग करके देखनेसे संभव है कि हम प्राचीनसमयके मुकाबलेमें छोटा देख पावें। किन्तु समग्रभावसे देखने पर अवश्य ही हमको इसका ऐश्वर्य जान पड़ेगा।

यूरोपकी सभ्यता डेढ़ हजार वर्षसे टिकी हुई है और बराबर आगे बढ़ रही है। यह सच है कि ग्रीक-सभ्यताकी तरह वैसी तेजीसे यह नहीं चल सकती; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पग पग पर नई नई ठोकरें खाकर भी यह अबतक आगेहीको दौड़ रही है। दूसरी

सभ्यताओंमें, एकही भाव—एक ही आदर्शके एकाधिपत्यने अधीनताका बन्धन खड़ा कर दिया। परन्तु यूरोपमें, कोई भी एक सामाजिक शक्ति दूसरी शक्तियोंको पूर्णरूपसे दबा नहीं सकती—सब शक्तियाँ परस्पर घातप्रतिघातसे सचेत और संयत बनी रहती हैं। इस कारण यूरोपकी सभ्यतासे स्वाधीनताकी सृष्टि हुई है। सदाका झगड़ा देखकर उन सब परस्पर विरोधी शक्तियोंने, आपसमें कुछ समझौता करके, समाजके भीतर अपना अपना स्थान नियत कर लिया है। यही कारण है कि वे शक्तियाँ, एक दूसरीकी, जड़ उखाड़नेकी चेष्टामें नहीं लगी रहतीं। वहाँ अनेक तरहके परस्पर विरुद्ध दल अपनी स्वतन्त्रता बनाये रहकर काम कर सकते हैं।

यही इस नई यूरोपियन-सभ्यताकी मूल-प्रकृति है और यही इसकी श्रेष्ठता है।

गिजो महाशय यह भी कहते हैं कि इस विचित्रता या विभिन्नताका संग्राम सारे विश्वहीमें चल रहा है। यह तो स्पष्टरूपसे प्रकट है कि किसी भी एक ही नियमने, एक ही प्रकारसे संगठन करनेकी शक्तिने, एक ही सरल भावने या एक ही विशेष शक्तिने ऐसी क्षमता नहीं पाई कि वह सारे विश्व पर अकेले अपना अधिकार जमाकर—उसे एक ही कठिन साँचेमें ढालकर—सारे विरोधी प्रभावोंको हटाकर शासन कर सके। विश्वमें देखिए, अनेक शक्तियाँ, अनेक तत्त्व, अनेक शासन-तन्त्र जुटकर युद्ध करते हैं—परस्पर एक दूसरेको संगठित करते हैं। कोई किसीको पूर्णरूपसे नहीं दबाता और न आप ही दबता है।

तथापि उन सब संगठन-शक्तियों, तत्त्वों और भावोंकी विचित्रता—उनका संग्राम और गति एक ही लक्ष्य—एक ही आदर्श—की ओर है। आधुनिक यूरोपियन-सभ्यता इसी विश्व-शासनका प्रतिबिम्ब कही जा

सकती है। यह संकुचितरूपसे सीमाबद्ध नहीं है, एकनिष्ठ नहीं है और स्थिर भी नहीं है। जगतमें यह पहला ही अवसर है कि सभ्यता अपने विशेष रूपको छोड़कर इस तरह दिखाई पड़ी है। जगत्में यह पहली ही वार विश्व-लीलाके विकासकी तरह बहुविभक्त, विपुल और बहुचेष्टा-सम्पादित सभ्यताका सुन्दर विकास हुआ है। यूरोपियन सभ्यताने इस प्रकार सनातन सत्यकी राह पाई है। उसने जगदीश्वरकी कार्यप्रणालीका ढंग पकड़ा है। ईश्वरने जो मार्ग बनाया है उसी पर यह सभ्यता आगे बढ़ रही है। इस सभ्यताकी श्रेष्ठता इस सत्यके ऊपर निर्भर है।

हमने यह गिजोका मत आपको सुना दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपियन सभ्यताने इस समय बहुत बड़ा आकार धारण कर लिया है–अर्थात् दूर तक फैली हुई है। यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया, ये तीन महादेश इस सभ्यताका पालन-पोषण करनेवाले हैं। इतने भिन्नभिन्न अनेक देशोंमें एक महा-सभ्यताकी स्थापना–ऐसी अद्भुत विराट् घटना–अबसे पहले कभी नहीं हुई। तब फिर किसके साथ तुलना करके इसका विचार करें? किस इतिहासकी साक्षी लेकर इसके परिणामका निर्णय करें? और सब सभ्यतायें तो एक ही देशकी, एक ही जातिकी हैं। जो जाति जब तक ईंधन जुटाती रही तबतक उसकी सभ्यता धधकती, अपना प्रकाश फैलाती रही; उसके बाद या तो वह बुझ गई और या राखके नीचे दब गई है। यूरोपियन सभ्यता यज्ञके लिए लकड़ी जुटानेका भार अनेक देशों और अनेक जातियोंने अपने ऊपर लिया है। इसीसे नहीं कहा जा सकता कि यह यज्ञकी आग बुझ जायगी अथवा फैलकर सारी पृथ्वीको ग्रस लेगी।

किन्तु इस सभ्यताके भीतर भी एक ऐसी शक्ति या एक ऐसा भाव है जो सब पर कर्तृत्व कर रहा है—हुकूमत चला रहा है। कोई भी सभ्यता बिना आकार-प्रकारकी नहीं हो सकती। इसीसे कहते हैं कि इसके मूलमें भी अवश्य ऐसी एक शक्ति है जो इसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको चला रही है। उस शक्तिके बढ़ने-घटने पर ही इस सभ्यताकी उन्नति या विनाश निर्भर है। वह शक्ति क्या है? इस सभ्यताकी अनेक विचित्र चेष्टा और स्वतन्त्रताके भीतर वह एक-शासन कहाँ पर है?

यूरोपियन सभ्यताको हरएक देशमें अलग अलग खण्ड खण्ड करके देखनेसे और सभी बातोंमें उसकी स्वतन्त्रता या विभिन्नता देख पड़ती है; केवल एक ही मामलेमें उसका एकमुखीभाव या एकता पाई जाती है। वह मामला है राष्ट्रके स्वार्थका—राष्ट्रके हानि लाभका।

चाहे इँग्लेंडमें हो, चाहे फ्राँसमें; और सभी मामलोंमें सर्वसाधारण एकमत शायद नहीं हो सकते—एक दूसरेपर विश्वास नहीं कर सकते। मगर इसमें कहीं भी, कुछ भी, मतभेद न होगा कि अपने राष्ट्रके स्वार्थकी रक्षा जीजानसे करनी चाहिए। यूरोपियन लोग इसी जगह पर एकाग्र हैं। यहीं पर वे प्रबल हैं, निष्ठुर हैं। राष्ट्रीय स्वार्थको धक्का पहुँचते ही सारा देश एक हो जाता है—भिड़नेके लिए, प्रतीकार करनेके लिए, कमर कसकर खड़ा हो जाता है। जातिकी रक्षा करनेका संस्कार जैसे हमारी अस्थि मज्जामें बस गया है वैसे ही राष्ट्रके स्वार्थकी रक्षा करना यूरोप-निवासी सर्वसाधारणका जातीय भाव हो गया है।

यह निर्णय करना कठिन है कि इतिहासके किस निगूढ़ नियमसे किस देशकी सभ्यताने किस भावको ग्रहण किया; किन्तु यह अच्छी-तरहसे निश्चित है कि जब वह ( सभ्यताका ) भाव अपनेसे ऊँचे

भावका गला घोटने लगता है तब उसपर टिकीहुई सभ्यताका नाश निकट आने लगता है।

हरएक जातिका जैसे एक जातिधर्म होता है, वैसे ही, जातिधर्मसे भी बड़ा एक श्रेष्ठ धर्म भी होता है। वह श्रेष्ठ-धर्म एक ही जातिका नहीं, सम्पूर्ण मनुष्यमात्रका धर्म है। हमारे देशके वर्णाश्रमधर्मने जब उस श्रेष्ठ-धर्मको--सर्वसाधारणके धर्मको--हानि पहुँचाई तब उसने भी इस पर चोट चलाई। कहा ही है:—

**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।**

एक समय आर्य-सभ्यताने ब्राह्मण आदि द्विजों और शूद्रोंके बीच एक दुर्लङ्घ्य दीवार खड़ी कर दी थी। किन्तु धीरे धीरे उस दीवारने वर्णाश्रमधर्मसे भी ऊँचे धर्मको सताना या हानि पहुँचाना शुरू किया। वर्णाश्रमधर्मने अपनी रक्षा करनेकी चेष्टा की; किन्तु उस श्रेष्ठधर्मकी रक्षा पर कुछ ध्यान नहीं दिया। उसने जब शूद्रको ऊँचे दरजेके मनुष्यत्वकी चर्चासे एकदम वञ्चित करना चाहा, तब धर्मने उसका बदला लिया। उस समय ब्राह्मण अपने ज्ञानधर्मको लेकर पहलेकी तरह आगे नहीं बढ़ सके। अज्ञानसे जड़ बने हुए शूद्र सम्प्रदायने समाजको खूब जोरसे पकड़कर नीचेकी ओर खींच लिया। ब्राह्मणने शूद्रको ऊपर चढ़ने नहीं दिया। फल यह हुआ कि शूद्रने ब्राह्मणको नीचे घसीट लिया। भारतवर्षमें आज भी, वर्णाश्रम-धर्ममें ब्राह्मणोंकी प्रधानता रहने पर भी, निकृष्ट अधिकारियोंकी अज्ञतामें शूद्र-संस्कारोंसे ब्राह्मण-समाजतक घिरा हुआ और फँसा हुआ है।

अँगरेजोंके यहाँ आने पर जब हरएकके लिए ज्ञान प्राप्त करनेका द्वार खुल गया, जब सभी मनुष्य मनुष्यत्व प्राप्त करनेके अधिकारी समझे जाने लगे तब ब्राह्मणोंके भी सचेत होनेके लक्षण दिखाई पड़े

आज ब्राह्मणसे शूद्र तक, सब मिलकर, हिन्दूजातिके अन्तर्निहित आदर्शकी विशुद्ध मूर्तिको देखनेके लिए चेष्टा करने लगे हैं—सब जाग उठे हैं। शूद्रलोग आज जाग रहे हैं, इसीसे ब्राह्मणलोग भी जागनेकी चेष्टामें आँखें खोल रहे हैं।

जो कुछ हो, हमारे वर्णाश्रम-धर्मके संकुचित भावने नित्यधर्मको बहुत जगह पर दबा लिया था; इसी कारण वह वर्णाश्रम-धर्म उन्नतिकी ओर न जाकर बिगड़नेहीकी ओर लुढ़क पड़ा।

हमको यह याद रखना चाहिए कि यूरोपियन सभ्यताका मूल आधार राष्ट्रीय स्वार्थ है, वह राष्ट्रीय स्वार्थ यदि इतना अधिक फैले कि वह नित्य-धर्मकी सीमाको लाँघने लगे तो उसमें अवश्य विनाशका छिद्र दिखाई देगा और उसी छिद्रसे उस पर 'साढ़साती' सनीचरकी दृष्टि पड़ेगी।

स्वार्थका स्वभाव ही विरोध है। यूरोपियन सभ्यताकी हरएक सीमामें वह विरोध दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है। पृथ्वीके लिए एक समय इन यूरोपियन जातियोंमें परस्पर धक्कमधक्का और छीना-झपटी-होनेकी सूचना अभीसे मिल रही है।

यह भी देख पड़ता है कि इस राष्ट्रीय-स्वार्थपरता अर्थात् खुदगर्जीने नित्य-धर्मको खुलासा तौर पर नीचा दिखाना—न मानना शुरू कर दिया है। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली नीतिका अनुमोदन करनेमें अब वह नहीं शरमाती या सङ्कोच करती।

यह भी स्पष्ट ही देखा जाता है कि यह बात एक प्रकारसे सर्व-सम्मत होती जाती है कि जो उदार धर्मनीति व्यक्तिविशेषके लिए ग्राह्य है वही नीति राष्ट्रीय मामलोंमें, आवश्यकताके अनुरोधसे अग्राह्य है। राष्ट्रतन्त्रमें मिथ्या आचरण, प्रतिज्ञाभङ्ग और दगाबाजी भी एक प्रकारकी पालिसी समझी जाती है। जो जातियाँ, मनुष्यको मनुष्यके

साथ सत्य व्यवहार करना चाहिए—इस पक्षका समर्थन करती हैं, न्याय-पर चलना ही श्रेय समझती हैं वे भी राष्ट्रतन्त्रमें धर्मज्ञानको उठाकर अलग आलेमें रख देती हैं। यही कारण है कि फरासीसी, अँगरेज, जर्मन और रूसी—सब, एक दूसरेको कपटी, धूर्त और दगाबाज आदि कहकर जोर जोरसे गालियाँ देते हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि यूरोपकी सभ्यताने राष्ट्रीय स्वार्थको इतनी अधिक प्रधानता दे डाली है कि अब उसने धीरे धीरे बढ़कर ध्रुव-धर्मके ऊपर हाथ साफ करना शुरू किया है। अब पिछली सदीका 'साम्य' और 'भ्रातृभाव'का मन्त्र यूरोपकी दृष्टिमें 'दिल्लगीकी बात' हो गया है। अब ईसाई पादरियोंके मुँहसे भी 'भाई' शब्द बेसुरा निकलता है।

प्राचीन ग्रीक और रोमन सभ्यता भी इसी राष्ट्रीय स्वार्थसे संगठित हुई थी। इसी कारण, राष्ट्रीय महत्त्व मिटनेके साथ ही, ग्रीक और रोमन सभ्यताका भी अंत हो गया। किन्तु हमारी हिन्दू-सभ्यता राष्ट्र-सम्बन्धी एकेपर नहीं प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि "हम, चाहे स्वाधीन रहें; चाहे पराधीन; हिन्दू-सभ्यताको अपने समाजके भीतर फिर वैसी ही सजीव मूर्तिमें दिखा सकते हैं।" यह आशा, हमारे लिए, दुराशा नहीं है—'बौनेकी चाँद पकड़नेकी अभिलाषा' नहीं है।

नेशन (Nation) शब्द हमारी भाषामें नहीं है। वह हमारे देशकी चीज ही नहीं है। आजकल हम लोगोंने, अँगरेजी शिक्षाके फलसे, नेशनल (National), नेशनॅलिटी (Nationality) आदि शब्दोंका बहुत अधिक आदर करना सीख लिया है। मगर कमी यही है कि उनका आदर्श हमारे देशमें हमारे अन्तःकरणमें नहीं है। हमारा इतिहास, हमारा धर्म, हमारा समाज, हमारा घर, कोई भी

नेशन गढ़नेकी प्रधानताको स्वीकार नहीं करता। यूरोपमें स्वाधीनताको जो स्थान मिला है वही स्थान हमारे यहाँ मुक्तिको दिया गया है। हम लोग आत्माकी स्वाधीनताको ही मुख्य मानते हैं। उसके सिवा, अन्य किसी स्वाधीनताको हम नहीं मानते। शत्रु, वह चाहे भीतरी हो या बाहरी, उसके बन्धनमें पड़ना ही पराधीनता है। काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओंका बन्धन काट डालने पर हम लोग बड़े बड़े राजामहाराजाओंसे भी श्रेष्ठ पद पाजाते हैं। हमारे यहाँ हरएक गृहस्थ यह सोचता है कि सारे संसारके प्रति कुछ-न-कुछ मेरा कर्तव्य है। वह अपने नित्यके कार्योंसे ही जगत्का कार्य करता है। हमने घरके भीतर ही सारे ब्रह्माण्ड और उसके स्वामीकी स्थापना कर ली है। हमारे सबसे प्रधान कर्तव्यका उल्लेख या आदर्श इसी एक मन्त्रमें कह दिया गया है:—

**ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्यात् तत्त्व-ज्ञान-परायणः।**
**यत् यत् कर्म्म प्रकुर्वीत तत् ब्रह्मणि समर्पयेत्॥**

( **अर्थ**—तत्त्व अर्थात् सत्यके ज्ञानमें लगा रहकर, गृहस्थ और ब्रह्मनिष्ठ होकर, जो कुछ काम करे वह ब्रह्मार्पण कर दे। )

इस आदर्शको ठीक ठीक बनाये रखना नेशनल कर्तव्यसे कहीं अधिक कठिन और बड़ा है। इस समय यह आदर्श हमारे समाजमें सजीव नहीं है। इसी कारण हम यूरोपकी सभ्यताको सतृष्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। यदि हम अपने इस आदर्शको अपने घरोंमें सजीव-भाव-से स्थापित कर सकें तो फिर हमको तोप, बन्दूक और गोलागोलीकी सहायतासे बड़े होनेकी जरूरत न पड़ेगी। तब हम वास्तवमें स्वाधीन और स्वतन्त्र होंगे—अपने विजेताओंसे किसी बातमें घटकर नहीं रहेंगे। हमको याद रखना चाहिए कि दरख्वास्त या अर्जी देकर जो कुछ उनसे पावेंगे उससे हमारा कुछ भी बड़प्पन न होगा।

पन्द्रह–सोलह शताब्दी कुछ बहुत अधिक समय नहीं है। नेशन ही जिसका विकास है उस पाश्चात्य सभ्यताकी पूरी परीक्षा अभीतक नहीं हुई। इसी बीचमें देख पड़ता है कि उसके चरित्र या चालचलनका आदर्श श्रेष्ठ नहीं है। वह अन्याय, अविचार और मिथ्यामें डूबी हुई है और उसकी नस-नसमें एक प्रकारकी भयानक निठुराई लहरा रही है।

इस नेशनल आदर्शको ही अपना आदर्श माननेसे हम लोगोंमें भी मिथ्याका प्रभाव बढ़ता जाता है। हमारी राष्ट्रीय सभाओंमें अनेक प्रकारके झूठोंका प्रादुर्भाव हो रहा है–जालसाजी और अपनेको छिपानेकी चेष्टा हो रही है। हम सच बातको साफ साफ कह देना भूलते जाते हैं। हम लोग आपसमें कानाफूसी करने लगे हैं कि अपने, व्यक्तिगत, स्वार्थके लिए जो दूषण है वही राष्ट्रीय स्वार्थके लिए भूषण है।

असल बात यह है कि हरएक सभ्यताका एक-न-एक मूल या आधार अवश्य है। अब विचारना केवल यही है कि वह मूल या आधार धर्म्मके ऊपर स्थित है या नहीं? यदि वह उदार और व्यापक नहीं है, यदि वह धर्म्मको हानि पहुँचाता हुआ बढ़ रहा है तो उसकी वर्तमान उन्नति देखकर हमको उस पर लट्टू न हो जाना चाहिए–उसीको एकमात्र अभीष्ट न समझ लेना चाहिए।

हमारी हिन्दूसभ्यताकी जड़ समाज है और यूरोपियन सभ्यताकी जड़ राष्ट्रनीति है। सामाजिक महत्त्वसे भी मनुष्य अपने गौरवको बढ़ा सकता है और राष्ट्रनीतिक महत्त्वसे भी। किन्तु यदि हम यह समझें कि यूरोपियन साँचेमें 'नेशन' गढ़ लेना ही सभ्यताका स्वभाव और मनुष्यत्वका एकमात्र लक्ष्य है तो वह हमारा भारी भ्रम है।

## ब्राह्मण।

सबको मालूम है कि अभी हालमें (सन् १९०१ ई०में) किसी महाराष्ट्र ब्राह्मणको उसके मालिकने जूता मारा था। इसका मुकद्दमा हाईकोर्टतक पहुँचा, और अन्तको जजसाहबने मामलेको मामूली बात कहकर मिटा दिया।

बात इतनी लज्जाकी है कि मैं इस मासिकपत्रमें ( वंग-दर्शनमें ) इसकी चर्चा कभी न करता। मार खाकर मारना उचित है या रोना, अथवा नालिश करना—इन बातोंकी आलोचना समाचारपत्रोंमें हो चुकी हैं। मैं इन बातोंकी चर्चा करना भी नहीं चाहता। मगर इस घटनाको देखकर मेरे मनमें जो तरहतरहके विचार उठ रहे हैं, उन्हें प्रकट कर देनेका यही ठीक समय है।

विचारकने इस घटनाको एक साधारण घटना बतलाया। मैं देखता हूँ कि इस घटनाको समाजने भी साधारण ही समझ लिया। इसलिए विचारकने जो कहा सो सच ही कहा। जो कुछ हो; इस घटनाके तुच्छ माने-जानेसे यह मालूम हो गया कि हमारे समाजका विकार बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है।

अँगरेज लोग जिसे प्रेस्टिज, अर्थात् अपना राज-सम्मान, कहते हैं उसे वे बहुत कीमती समझते हैं। क्यों कि उनका यह प्रेस्टिज बहुधा एक फ़ौजका काम देता है। उनकी यह नीति है कि जिसको

अपने हुक्म पर चलाना है उस पर प्रेस्टिज रखना चाहिए। बोअरोंसे जब लड़ाई हो रही थी, और उसके आरम्भहीमें अँगरेज साम्राज्य मुट्ठी भर किसानोंके हाथसे बार बार अपमानित हो रहा था उस समय अँगरेज लोग भारतवर्षमें जितना संकोच कर रहे थे उतना और कहीं नहीं। उस समय सभी हिन्दुस्तानी समझ रहे थे कि अब अँगरेजोंका बूट जूता इस देशमें पहलेकी तरह जोरसे नहीं मचमचाता।

हमारे देशमें एक समय ब्राह्मणोंका भी वैसा ही एक प्रकारका प्रेस्टिज था। क्योंकि समाज-सञ्चालनका भार ब्राह्मणोंहीके ऊपर था। जबतक समाजमें उनका प्रेस्टिज था तबतक किसीने इस पर ध्यान ही नहीं दिया कि ब्राह्मण लोग ठीक ठीक समाजकी रक्षा करते हैं कि नहीं, और समाजकी रक्षा करनेवालेमें जिन जिन निःस्वार्थ श्रेष्ठ गुणोंका होना जरूरी है वे उनमें हैं कि नहीं। अँगरेजोंके लिए उनका प्रेस्टिज जैसे बहुमूल्य है वैसे ही ब्राह्मणोंके लिए उनका प्रेस्टिज भी है।

हमारे देशमें समाजका संगठन जिस ढंगसे हुआ है उससे समाजको इसकी जरूरत भी है। और इसके आवश्यक होनेके कारण ही समाजने ब्राह्मणोंको इतना सम्मान दिया था। हमारे देशका समाजतन्त्र एक विराट् व्यापार है। इसीने सारे देशको नियमबद्ध करके धारण कर रक्खा है। यही विशाल लोक-सम्प्रदायको अपराध और अधःपतनसे बचानेकी चेष्टा करता आ रहा है। यदि ऐसा न होता तो अँगरेज लोग अपनी पुलिस और फौजके द्वारा ऐसी आश्चर्यजनक शान्ति यहाँ कभी न स्थापित कर पाते। नवाबों और बादशाहोंकी अमलदारीमें भी, अनेक प्रकारकी राजकीय अशान्ति रहने पर भी, सामाजिक शान्ति वैसी ही चली आती थी। उस समय भी हमारा लोकव्यवहार शिथिल नहीं हुआ था, लेनदेन और व्यवहारमें सफाई और सचाईका

ख़याल रहता था, झूठी गवाही देना निन्दित समझा जाता था, कर्जदार महाजनको अँगूठा नहीं दिखाता था और साधारण धर्मके सब नियमों पर सब लोगोंको सहज सरल विश्वास था।

पूर्वी स्वभावके अनुकूल यह समाजकी व्यवस्था यदि निन्दनीय न समझी जाय तो इसके आदर्शको सदा विशुद्ध बनाये रखनेका—इसका सिलसिला या क्रम ठीक रखनेका भार किसी एक खास सम्प्रदायको अवश्य ही सौंपना पड़ता है। उस सम्प्रदायके लोगोंसे यह आशा की जाती है कि वे अपने निर्वाहके ढंगको यथासंभव सरल और विशुद्ध बनाकर—जरूरतोंको घटाकर—पढ़ने पढ़ाने और यजन-याजनको ही अपने जीवनका व्रत समझकर—देशके उच्चतम आदर्शको सब तरहकी दूकानदारीके दूषित स्पर्शसे बचाकर अपनेको उस सम्मानका यथार्थ अधिकारी बनावेंगे जो उन्हें समाजसे प्राप्त हुआ है।

अपने दोषसे ही लोगोंको अपना असली अधिकार गँवाना पड़ता है। अँगरेजोंके सम्बन्धमें भी यही बात देखी जाती है। देशी आदमी पर अन्याय करके जब कोई अँगरेज प्रेस्टिजकी दुहाई पर दण्डसे छुटकारा चाहता है तब वह वास्तवमें अपनेको सच्चे प्रेस्टिजके अधिकारसे वञ्चित करता है। न्यायनिष्ठाका प्रेस्टिज सब प्रकारके प्रेस्टिजोंसे बड़ा है। उसके आगे हमारा मन आप ही आप सिर झुकाता है। और, भयका प्रेस्टिज जबरदस्ती गरदन पकड़कर सिर झुकवाता है। इस प्रकार जबरदस्ती सलाम करानेकी वेइज्जतीके विरुद्ध हमारा मन भीतर ही भीतर विद्रोही बने बिना नहीं रह सकता।

ब्राह्मणोंने भी जब अपने कर्तव्यको छोड़ दिया है तब वे केवल बदनके जोरसे, परलोकका भय दिखाकर समाजके सर्वोच्च आसन पर अपनेको नहीं रख सकते।

कोई सम्मान बेदामका नहीं होता। मनमाने काम करके सम्मान कायम नहीं रक्खा जा सकता। जो राजा सिंहासन पर बैठता है वह दूकान खोलकर व्यापार नहीं कर सकता। जो सम्मान पानेका अधिकारी है उसे सब ओरसे अपनी इच्छाको दबाकर चलना पड़ता है। हमारे देशमें घरके और और लोगोंकी अपेक्षा घरके मालिक और मालकिनको ही सांसारिक सुख-भोगसे, अधिक वञ्चित रहना पड़ता है। घरकी मालकिन सबके पीछे भोजन करती है। यदि मालिक या मुखिया बननेमें कुछ भी स्वार्थत्याग न हो तो कोरे रोबदाबसे ही हुकूमत नहीं चलाई जा सकती—सम्मान नहीं रह सकता। सम्मान भी लोगे और उसका कुछ मूल्य भी न दोगे; यह जबरदस्ती बहुत दिनोंतक कभी नहीं चल सकती।

हमारे समाजके आधुनिक ब्राह्मणोंने बिना दाम दिये सम्मान प्राप्त करनेका ढंग पकड़ा था। इसका फल यह हुआ कि समाजमें उनका सम्मान दिनों-दिन घटकर अब जबानी जमाखर्चके रूपमें रह गया है। इतना ही नहीं, ब्राह्मणलोग समाजके जिस उच्च कर्म पर नियुक्त थे उसमें शिथिलता आजानेसे समाजके जोड़ भी खुलते जाते हैं।

यदि पूर्वी भावसे ही हमारे देशमें समाजकी रक्षा करनी हो—यदि यूरोपियन ढंगसे इस बहुत दिनोंके बड़े समाजको जड़से बदल देना संभव या मुनासिब न हो—तो यथार्थ ब्राह्मण-सम्प्रदायकी बड़ी जरूरत है। वे गरीब होंगे, पण्डित होंगे, धर्ममें निष्ठा रखनेवाले होंगे, सब प्रकारसे वर्णाश्रम-धर्मके आदर्श, आधार और गुरु होंगे।

जिस समाजका एक दल धन और मानकी पर्वा नहीं रखता, भोगविलासको घृणाकी दृष्टिसे देखता है, निःस्वार्थभावसे ज्ञानका उपार्जन करके निःस्वार्थभावसे ही औरोंको ज्ञान-प्रदान किया करता है, आचार-

विचारमें शुद्ध और धर्म-निष्ठामें दृढ़ है,—पराधीनता या गरीबीसे उस समाजकी कोई बेइज्जती नहीं है। समाज जिन लोगोंको सच्चा सम्मान देता है उन्हींसे वह सम्मानित होता है।

सभी समाजोंमें मान्य व्यक्ति ही—श्रेष्ठ लोग ही अपने अपने समाजके स्वरूप हैं। इँग्लेंडको जब हम धनी कहते हैं तब वहाँके असंख्य गरीबोंकी गिनती नहीं करते। यूरोपको जब हम स्वाधीन कहते हैं तब उसके असंख्य साधारण मनुष्योंकी पराधीनता पर ध्यान नहीं देते। वहाँ ऊपरके कुछ ही आदमी धनी हैं, उच्चश्रेणीके कुछ आदमी ही स्वाधीन हैं, ऊपरके कुछ आदमी ही पशुपनेसे बरी हैं। ये ऊपरके कुछ आदमी जबतक नीचेके बहुतसे लोगोंको सुख स्वास्थ्य और ज्ञान, धर्म देनेके लिए अपनी इच्छाका प्रयोग और अपने सुखभोगको संयत बनाये रखते हैं तबतक उस सभ्य समाजको कुछ भय नहीं है।

यूरोपियन समाज इसी तरह चलता है कि नहीं, इसकी आलोचना व्यर्थ मालूम हो सकती है; किन्तु वह बिलकुल व्यर्थ नहीं है।

जहाँ चढ़ाऊपरीके मारे पासके आदमीको पीछे करके आगे निकल जानेकी अत्यन्त प्रबल इच्छामें हरएकको हर घड़ी भिड़ना पड़ता है वहाँ कर्तव्यके आदर्शको विशुद्ध बनाये रखना बहुत ही कठिन है। और, वहाँ किसी एक सीमा पर आकर आशाको सँभालना या रोकना भी मनुष्यके लिए दुःसाध्य होजाता है।

यूरोपके बड़े बड़े साम्राज्य एक दूसरेसे आगे बढ़ जानेके लिए जीजानसे चेष्टा कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें यह बात किसीके मुँहसे नहीं निकल सकती कि हम पिछड़ कर प्रथम श्रेणीसे दूसरी श्रेणीमें भले ही आजायँगे, परन्तु अन्याय नहीं करेंगे। ऐसी बात किसीके

मनमें आही नहीं सकती कि हम जल और स्थलकी सेना कम करके राजकीय शक्तिमें परोसीके निकट छोटा बनना भले ही स्वीकार कर लेंगे, परन्तु समाजके भीतर सुख-सन्तोष और ज्ञान-धर्मका अधिकाधिक प्रचार अवश्य करेंगे। चढ़ाऊपरी या लागडाँटके आकर्षणमें जो जोश उत्पन्न होता है वह सोचने विचारनेका अवकाश नहीं देता —बराबर हाँके चला जाता है। यूरोप इसी अंधाधुंध गतिसे चलनेको ही उन्नति कहता है। हम लोगोंने भी इसीको उन्नति कहना सीख लिया है।

किन्तु जो चाल पग पग पर थमनेके द्वारा नियमित नहीं उसको उन्नति नहीं कह सकते। जिस छन्दमें विश्राम नहीं वह छन्द ही नहीं होसकता। समाजके पैरोंके पास भले ही सागर लहरें मारा करे—फेन फेका करे, मगर समाजके सर्वोच्चशिखर पर शान्ति और स्थितिका सनातन आदर्श नित्य विराजमान रहना चाहिए।

उस आदर्शको कौन लोग अटल और सुरक्षित रख सकते हैं? इसका उत्तर यही है कि जो लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे स्वार्थकी पर्वा नहीं रखते, पैसा पास न होना ही जिनकी प्रतिष्ठा है, मङ्गलके—पुण्यके—कामोंको जो लोग बाजारू सौदा नहीं समझते, विशुद्ध ज्ञान और उन्नत धर्ममें जिनका चित्त रमा रहता है, और अन्य सब छोड़कर समाजके सर्वोच्च आदर्शकी रक्षा करनेके महान् भावने जिनको पवित्र और पूजनीय बनाया है वे ही उस आदर्शको अटल और सुरक्षित रख सकते हैं।

यूरोपमें भी, विश्रामरहित कर्मकी हलचलमें, बीच बीचमें एक दो ऐसे विचारशील बुद्धिमान् देख पड़ते हैं जो घुमनीके उन्मत नशेमें स्थितिके आदर्श, लक्ष्यके आदर्श और उन्नति या परिणतिके आदर्शको पकधते हैं। किन्तु दो घड़ी खड़े होकर उनकी सुनेगा कौन? सम्मिलित सुबृहत्

स्वार्थके प्रचण्ड वेगको इस प्रकारके दो-एक आदमी उँगली उठाकर कैसे रोक सकते हैं? व्यापारी जहाजकी 'पाल' में उनचासों पवन लग रहे हैं। यूरोपके मैदानमें उन्मत्त दर्शकोंके बीच कतार बाँधे हुए जंगी घोड़ोंकी दौड़ हो रही है। इस समय घड़ी भरके लिए कौन ठहरेगा?

हमारे मनमें भी यह कल्पना उठती है कि इस उन्मत्त-भावमें—इसप्रकार जी-जानसे अपनी शक्तिको एकदम उन्मुक्त कर देनेमें आध्यात्मिक भावका जन्म हो सकता है। इस वेगका आकर्षण अत्यन्त अधिक है। वह हम लोगोंको लुभाता है। हम लोगोंको यह सन्देह ही नहीं होता कि यह वेग प्रलयकी ओर भी जा सकता है।

यह वेग या जोश किस प्रकारका है? यह उसी तरह का है जैसे गेरुए कपड़े पहने हुए फकीरोंका एक दल, जो अपनेको साधु और साधक बतलाता है, गाँजेके नशेको आध्यात्मिक आनन्द-लाभकी साधना समझता है। यह सच है कि नशेसे एकाग्रता और उत्तेजना भी होती है, किन्तु उससे आध्यात्मिक आनन्द-लाभ कैसा, उलटे आध्यात्मिक स्वाधीन सबलताकी मात्रा घटती जाती है। और सब कुछ छोड़ा जा सकता है; मगर यह नशेकी उत्तेजना नहीं छोड़ी जा सकती। धीरे धीरे मनका स्वाभाविक बल जितना घटता जाता है उतना ही नशेकी मात्रा बढ़ानी पड़ती है। हिलडुलकर, नाचकर, या जोरसे बाजा बजाकर अपनेको बदहवास और मूर्च्छितसा बनाकर जिस धर्मोन्मादका सुख भोगा जाता है वह भी बनावटी है। उसका अभ्यास बढ़जाने पर, वह, अफीमके नशेकी तरह, थकावटके समय केवल एक प्रकारकी ताड़ना किया करता है। यह बात सर्वथा सत्य है कि आत्मगत एकनिष्ठ साधनाके बिना यथार्थ स्थायी और कीमती

कोई चीज नहीं मिलती; और, न किसी स्थायी और कीमती चीजकी रक्षा ही की जा सकती है।

किन्तु उत्तेजनाके बिना काम, और कामके बिना समाज, नहीं चल सकता। इसी कारण भारतवर्षने अपने समाजमें गति और स्थितिका सामञ्जस्य रखना चाहा था। क्षत्रिय, वैश्य आदि जो लोग अपने हाथसे समाजका काम करते हैं उनके कर्मकी सीमा निश्चित और नियत थी। इसीसे क्षत्रियलोग क्षात्र-धर्मके आदर्शकी रक्षा करते हुए अपने कर्तव्यकी गिनती धर्ममें कर सकते थे। स्वार्थ और प्रवृत्तिके ऊपर धर्मरूप कर्तव्यको स्थापित करनेसे कर्ममें भी विश्राम और आध्यात्मिकता पानेका अवकाश मिलता है।

यूरोपियन समाज जिस नियमसे चलता है वह नियम, गतिसे पैदा हुए एक विशेष झोंककी ओर ही समाजके अधिकांश लोगोंको ठेल देता है। वहाँ, दिमागसे काम करनेवाले लोग राष्ट्रीय मामलोंकी ओर ही झुक पड़ते हैं—साधारण लोग धन कमानेमें ही जुट जाते हैं। वर्त्तमान समयमें साम्राज्य-लोभने सबको ग्रस लिया है और जगत् भरको बाँट लेनेकी कारवाई चल रही है। ऐसा भी समय आना आश्चर्य नहीं है, जब विशुद्ध ज्ञान-चर्चामें काफी आदमी मन न लगावें। ऐसा भी समय आसकता है, जब जरूरत पड़ने पर भी सैनिक न मिलें। क्योंकि प्रवृत्तिके प्रबल वेगको कौन रोक सकेगा? जो जर्मनी एक दिन पण्डित था वह जर्मनी यदि बनिया बनकर बैपारकी ओर ही झुक पड़े तो उसके पाण्डित्यका उद्धार कौन करेगा? जिन अँगरेजोंने एक दिन क्षत्रिय-भावसे आर्तकी रक्षा करनेका व्रत ग्रहण किया था, वे जब शरीरके बलसे चारों ओर अपनी दूकानदारी चलानेको दौड़ पड़े हैं, तब कौन शक्ति उनसे उनके उस पुराने क्षत्रिय-भावको लौटा लावेगी?

इस झोंक पर ही सबकुछ करने-धरनेका भार न डालकर संयत सुशृंखला-युक्त कर्तव्य-व्यवस्था पर करने-धरनेका भार देना ही भारत-वर्षके समाजका नियम या ढंग है। समाज यदि सजीव रहे, बाहरी आघातसे बदहवास न होजाय तो इसी नियम या ढंगसे सब समय समाजमें सामञ्जस्य बना रहता है—उसमें एक ओर खलबली मच जानेसे वह दूसरी ओर शून्य नहीं हो जाता। समाजके सभी लोग अपने आदर्शकी रक्षा करते हैं और अपना काम करके उसीमें अपना गौरव समझते हैं।

किन्तु काममें एक प्रकारकी झोंक होती ही है। उस झोंकमें आदमी अपने परिणामको भूल जाता है; अर्थात् यह नहीं सोचता कि इसका नतीजा क्या होगा। काम ही उस समय लक्ष्य बन जाता है। केवल कर्मके वेगकी धारामें अपनेको छोड़ देनेमें एक प्रकारका सुख होता है। इसी कारण कर्मका भूत कामकाजी आदमीको पाकर उसके सिर पर सवार हो बैठता है।

केवल यही नहीं। कामका पूरा करना ही जब अत्यन्त प्रधान या आवश्यक बन जाता है, तब उपायका विचार धीरे धीरे गायब हो जाता है। तब काम करनेवालेको संसारके साथ—उपस्थित आवश्यकताके साथ—तरह तरहसे निपटेरा करके चलना पड़ता है।

अतएव जिस समाजमें कर्म है, उस समाजमें कर्मको संयत रखनेकी—कर्मके वेगको सँभाले रखनेकी—व्यवस्था रहनी चाहिए। ऐसा सावधान पहरा रहना चाहिए जिसमें अन्ध कर्म ही मनुष्यत्वके ऊपर कर्तृत्व न पासके। कामकाजी मनुष्योंके दलको बराबर ठीक रास्ता दिखानेके लिए—कर्मके कोलाहलमें विशुद्ध 'सुर' को बराबर ज्योंका त्यों बनाये रखनेके लिए—एक ऐसे दलकी आवश्यकता है जिसके

आदमी अपनेको यथासंभव कर्म और स्वार्थसे अलग रक्खें। वे ही लोग हमारे यहाँके ब्राह्मण हैं।

ये ब्राह्मण ही यथार्थ स्वाधीन हैं। ये ही लोग यथार्थ स्वाधीनताके आदर्शको, निष्ठाके साथ, अनेक कठिनाइयोंका सामना करते हुए, समाजमें बनाये रखते हैं। समाज इनको ऐसा करनेका अवसर, सामर्थ्य और सम्मान देता है। इनकी यह मुक्ति ही समाजकी मुक्ति है। ये लोग जिस समाजमें अपनेको मुक्त भावसे रखते हैं उस समाजको क्षुद्र पराधीनतासे कुछ भय नहीं है—विपत्ति नहीं है। वह समाज अपने एक अंश—ब्राह्मणों—में सर्वदा अपने मनकी, अपने आत्माकी स्वाधीनताका अनुभव कर सकता है। हमारे देशके वर्तमान ब्राह्मणलोग यदि दृढता धारण कर लोभ-शून्य हो उन्नतभावसे समाजके इस श्रेष्ठ धनकी रक्षा करते तो आज समाज इस तरह ब्राह्मणका अपमान कभी न होने देता और विचारकके मुखसे भी ऐसी बात कभी न निकलती कि भद्र ब्राह्मणको जूता मारना एक साधारण बात है। विदेशी होनेपर भी विचारक महाशय सम्मानित ब्राह्मणके मानकी मर्यादा स्वयं समझ सकते।

किन्तु जो ब्राह्मण साहबके आफिसमें सिर झुकाकर नौकरी करता है, जो ब्राह्मण अपने समयको बेचता है—अपने महान् अधिकारको तिलाञ्जलि दे देता है, जो ब्राह्मण विद्यालयमें विद्याका बेपार करता है—विचारालयमें विचारका रोजगार करता है, जो ब्राह्मण पैसा कमानेके आगे ब्रह्मतेजको लात मार देता है, वह अपने आदर्शकी रक्षा कैसे करेगा? समाजकी रक्षा कैसे करेगा? हम श्रद्धापूर्वक उसके निकट धर्मकी व्यवस्था लेने कैसे जायँगे? वह तो सर्वसाधारणके साथ, उन्हींकी तरह, छीनाझपटी और धक्कमधक्केके काममें भिड़ाहुआ पसीनेमें तर हो रहा है। वह ब्राह्मण तो भक्तिके द्वारा समाजको ऊपर नहीं खींचता—नीचे ही गिराता है।

हम यह मानते हैं कि किसी भी सम्प्रदायका हर एक आदमी विशुद्ध भावसे अपने धर्मकी रक्षा नहीं कर सकता। उनमेंसे कितनोंही-का पैर फिसल जाता है। पुराणोंमें इस तरहके उदाहरण पाये जाते हैं कि बहुतोंने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियों और वैश्योंके समान आचरण किये हैं। किन्तु, तथापि, यदि सम्प्रदायमें आदर्श सजीव रहे; धर्म-पालनकी चेष्टा या निष्ठा बनी रहे; और यह दूसरी बात है कि कोई आगे बढ़ जाय और कोई पिछड़ रहे, परन्तु सब लोग एक ही पथ पर चलें; और, यदि इस आदर्शका प्रत्यक्ष दृष्टान्त बहुतोंमें—अधिकांश लोगोंमें—देख पड़े; तो उसी चेष्टाके द्वारा, उसी साधनाके द्वारा, और उन्हीं सफल-ताको पाये हुए व्यक्तियोंके द्वारा सारा सम्प्रदाय सार्थक होता है।

हमारे आधुनिक ब्राह्मण-समाजमें वह आदर्श ही नहीं है। यही कारण है कि ब्राह्मणके लड़के अँगरेजी सीखते ही अँगरेजी ठाट करने लगते हैं और उनके पिता उन पर नाराज नहीं होते। एम. ए. पास किये हुए मिसिरजी और विज्ञानके विद्वान् सुकुलजीने जो विद्या प्राप्त की है उसे क्या वे विद्यार्थियोंको घरमें बुलाकर, आसन पर बैठकर नहीं पढ़ा सकते? वे क्यों अपनेको और ब्राह्मणसमाजको शिक्षा-ऋणसे सारे समाजको ऋणी बनानेके गौरवसे वञ्चित करते हैं?

प्राचीन कालमें, जब केवल ब्राह्मण ही 'द्विज' नहीं कहलाते थे, क्षत्रिय और वैश्य भी द्विज-सम्प्रदायमें शामिल थे, जिस समय ब्रह्म-चर्यव्रत धारण करके उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करनेके लिए क्षत्रिय और वैश्यका यज्ञोपवीत होता था, उसी समय इस देशमें ब्राह्मणका आदर्श उज्ज्वल था। क्यों कि जिस समय चारों ओरका समाज अवनत होता है उस समय उसके बीचका कोई विशेष सम्प्रदाय अपनेको उन्नत नहीं रख सकता। धीरे धीरे नीचेका आकर्षण उसे नीचे उतार लेता है।

भारतवर्षमें जब एक ब्राह्मण ही द्विज रह गये, जब उनको उनके आदर्शका स्मरण करा देनेके लिए—उनके निकट ब्राह्मणत्वका दावा करनेके लिए—और कोई कहीं नहीं रहा ( अर्थात् " तुमको ब्राह्मणत्व बनाये रखना होगा " यह कहनेवाला और कोई नहीं रहा ), तब उनके द्विजत्वका विशुद्ध कठिन आदर्श शीघ्रताके साथ भ्रष्ट होने लगा। उस समय ब्राह्मण लोग ज्ञान, विश्वास और रुचिमें क्रमशः निकृष्ट अधिकारियोंके दलमें आकर दाखिल होगये। जहाँ चारों ओर घास-फूसके झोपड़े हैं वहाँ अपनी विशेषता बनाये रखनेके लिए एक खपरैलका घर बना लेना ही यथेष्ट होता है। वहाँ पर सतमंजिला महल बनानेका खर्च और परिश्रम उठानेकी प्रवृत्ति न होना ही स्वाभाविक है।

प्राचीन समयमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तीनों वर्ण द्विज थे; अर्थात् सारा आर्य-समाज ही द्विज था। शूद्र शब्दसे जिनका बोध होता था वे संथाल, भील, कोल और धाँगड़ आदि अनार्य-दलके लोग थे। शिक्षा, रीति-नीति और धर्म आदि बातोंमें आर्यसमाजके साथ उनका मेल होना बिलकुल ही असम्भव था। किन्तु इससे कोई हानि नहीं थी; क्यों कि साराका सारा आर्य-समाज द्विज था—अर्थात् सम्पूर्ण-समाजकी शिक्षा एक ही तरहकी थी। भेद था केवल कर्ममें। शिक्षा एक ही रहनेके कारण, आदर्शकी शुद्धता बनाये रखनेमें एक दूसरेकी अनुकूलता या सहायता करते थे। क्षत्रिय और वैश्य ब्राह्मणको ब्राह्मण होनेमें सहायता करते थे और ब्राह्मण भी क्षत्रिय और वैश्यको क्षत्रिय और वैश्य होनेमें सहायता करते थे। सारे समाजकी शिक्षाका आदर्श एक या समान उन्नत हुए बिना ऐसा कभी नहीं हो सकता।

वर्त्तमान समाजको भी यदि एक 'सिर'की आवश्यकता हो, उस सिरको यदि ऊँचा करनेकी इच्छा हो, और यदि वह समाजका सिर

ब्राह्मण ही माने जायँ, तो, उसके कन्धे और गरदनको जमीनसे मिला देनेसे काम नहीं चलेगा। याद रखना चाहिए कि समाज-शरीरके उन्नत हुए बिना उसका सिर ऊँचा नहीं हो सकता। और, समाज-शरीरको उन्नत कर रखना ही उस सिरका काम है।

हमारे वर्त्तमान समाजकी भद्र जातियाँ हैं वैद्य, कायस्थ, और वणिक्-सम्प्रदाय*। समाज अगर इनको द्विज न माने तो फिर ब्राह्मणोंके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है। समाज बगलेकी तरह एक टाँगसे खड़ा नहीं रह सकता।

वैद्योंने तो जनेऊ पहन लिया है। बीच बीचमें रह रहकर कायस्थ भी कहते हैं कि हम क्षत्रिय हैं। वैसे ही वणिक्-सम्प्रदाय भी वैश्य होनेका दावा करता है। मुझे इस पर विश्वास न करनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता। सूरत-शकल, बुद्धि और योग्यता—अर्थात् आर्य होनेके जो लक्षण हैं उन्हें देखते इनमें और वर्त्तमान ब्राह्मणोंमें कोई भेद नहीं है। बंगालकी किसी सभामें जनेऊ देखे बिना ब्राह्मण, कायस्थ और वणिक् सम्प्रदायको अलग करना सर्वथा असंभव है। परन्तु असली अनार्य अर्थात् भारतकी जंगली जातियोंमेंसे इन आर्य जातियोंको अलग कर देना या पहचान लेना बहुत ही सहज है।

* लेखक महाशय यहाँ पर बंगालहीकी बात कह रहे हैं। वहाँ साधारणतः केवल ब्राह्मण और शूद्र दो ही वर्णोंका अस्तित्व माना जाता है, और अबतक केवल ब्राह्मण ही यज्ञोपवीत धारण करते थे। बंगालमें वैद्यनामकी एक जुदी ही जाति है। प्रतिष्ठामें पहला आसन ब्राह्मणका, दूसरा वैद्यका, तीसरा कायस्थका, उसके बाद अन्यान्य जातियोंका है। किन्तु कायस्थ भी और प्रान्तोंकी तरह वहाँ शूद्र ही समझे जाते हैं। वणिक् कहनेसे खासकर सुनारोंका बोध होता है। बंगालकी तरह अन्य प्रान्तोंके भी कायस्थ अपनेको क्षत्रिय कहते हैं। अन्यान्य वर्ण भी वैश्य होनेका दावा करते हैं।—अनुवाद।

विशुद्ध आर्य-रक्तमें अनार्य-रक्त मिल गया है। हम लोगोंके रंगसे, चेहरेसे, धर्मसे, आचारसे और वर्त्तमान मानसिक दुर्बलतासे यह बात स्पष्ट मालूम होती है। किन्तु यह मिलावट ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, सभी जातियोंमें हुई है।

जो कुछ हो। शास्त्रोक्त क्रिया-कर्मकी रक्षाके लिए, विशेष आवश्यकता होनेके कारण ही, समाजको विशेष चेष्टा करके ब्राह्मणोंका सम्प्रदाय अलग स्थापित करना पड़ा था। वंगदेशीय हिन्दू-समाजमें क्षत्रियों और वैश्योंको, उस तरह विशेष रूपसे, उनके पुराने आचार-विचारकी कड़ाईमें बाँध रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। जिसकी खुशी हो युद्ध करे, जिसकी खुशी हो बनिज-बेपार करे, उससे समाजकी कुछ विशेष हानि या लाभ नहीं था। इसके सिवा जो लोग युद्ध-वाणिज्य-खेती शिल्प आदिमें लगे हुए थे उन्हें खास खास चिह्नोंके द्वारा अलग करनेकी भी कोई जरूरत नहीं थी। लोग अपने प्रयोजनके अनुसार ही व्यवसाय करते हैं। वे उसके लिए किसी विशेष व्यवस्थाकी अपेक्षा नहीं करते। किन्तु धर्मके सम्बन्धमें यह नियम नहीं है—वह प्राचीन नियमोंसे बँधा हुआ है। हम अपनी इच्छाके अनुसार उसका प्रबन्ध नहीं कर सकते, उसकी रीतिनीति नहीं बदल सकते।

हमारा सारा समाज प्रधानतः द्विज-समाज है। यदि ऐसा नहीं है अगर हमारा समाज शूद्र-समाज है तो केवल कुछ थोड़ेसे ब्राह्मणोंको लेकर वह यूरोपियन आदर्शसे भी गिरेगा और भारतवर्षके आदर्शसे भी भ्रष्ट होगा।

सभी उन्नत समाज समाजके लोगोंसे प्राणका दावा करते हैं। जो समाज अपनेको निकृष्ट मानकर, अपने अधिकांश लोगोंको आरामसे जड़ताका सुख भोगने देता है वह समाज मर जाता है। और, यदि वह न भी मरे तो उसका मरना ही अच्छा है।

यूरोप, कर्मकी उत्तेजनामें—प्रवृत्तिकी उत्तेजनामें—सदा प्राण देनेके लिए तैयार है। हम भी अगर धर्मके लिए प्राण देनेको तैयार न हों तो उस प्राण ( जन-समूह ) का अपमान होनेपर अभिमान प्रकट करना हमें शोभा नहीं देता।

यूरोपका सिपाही युद्धानुरागकी उत्तेजना, वेतनके लोभ और गौरवकी आशासे प्राण देता है। किन्तु हमारे यहाँका क्षत्रिय उत्तेजना और वेतनका अभाव होने पर भी युद्धमें प्राण देनेके लिए तैयार रहता है। इसका कारण यही है कि युद्ध समाजका एक अत्यन्त आवश्यक कर्म है। एक सम्प्रदाय यदि अपना धर्म समझकर ही उस कठिन कर्तव्यको स्वीकार करे तो कर्मके साथ धर्मकी रक्षा होती है। यदि देश भरके सभी लोग युद्धके लिए कमर कस लें तो मिलिटरिज्म अर्थात् युद्धानुरागकी प्रबलतासे देशका भारी अनिष्ट हो सकता है।

समाजकी रक्षाके लिए बनिज-बेपार अत्यन्त आवश्यक कर्म है। इस सामाजिक आवश्यकताको पूरा करनेके कामको यदि एक जाति अपना जातीय कर्म—अपना खानदानी गौरव समझकर स्वीकार करे, तो फिर वाणिज्यानुराग या बनियाईकी वृत्ति सर्वत्र व्याप्त होकर समाजकी अन्यान्य शक्तियोंको ग्रस नहीं लेती। इसके सिवा, कर्मके बीच धर्मका आदर्श सदैव जीताजागता रहता है।

धर्म और ज्ञानका उपार्जन, युद्ध और राजकाज, बनिज और शिल्पकी चर्चा—समाजके ये तीन आवश्यक कर्म हैं। इनमेंसे कोई भी छोड़ा नहीं जा सकता। इनमेंसे हर एकको, धर्मका गौरव और कुलका गौरव देकर, खास खास सम्प्रदायके हाथमें सौंपनेसे वह सीमाबद्ध भी हो जाता है और उसकी विशेष उन्नति करनेका अवसर भी मिलता है।

भारतको यह खटका था कि कर्मकी उत्तेजना ही पीछेसे कर्त्ता बनकर हमारे आत्माको अपने वशमें न कर ले। इसी कारण भारतवर्षमें सामाजिक मनुष्य युद्ध और बनिज करता है, परन्तु वह हरघड़ी या जन्मभर केवल सिपाही या बनिया नहीं बना रहता। कर्मको कुल-व्रत बना देनेसे, कर्मको सामाजिक धर्म बना देनेसे कर्म-साधन भी होता है और वह कर्म, अपनी सीमाको लाँघकर, समाजके सामञ्जस्यको नष्ट कर, मनुष्यकी सारी मनुष्यताको घेरकर, आत्माके राजसिंहासन पर अधिकार नहीं कर लेता।

जो द्विज हैं उनको एक समय कर्म-त्याग करना पड़ता है। उस समय वे न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय हैं और न वैश्य हैं। उस समय वे नित्यकालके मनुष्य हैं। उस समय कर्म उनके लिए धर्म नहीं रहता। इस लिए वे उसको अनायास ही छोड़ सकते हैं। इस तरह हमारे यहाँके द्विज-समाजने विद्या और अविद्या दोनोंकी रक्षा की थी। उन लोगोंने कहा था, "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।" अर्थात् अविद्यासे मृत्युके पार जाकर विद्यासे अमृत प्राप्त किया जाता है। यह संसार ही मृत्युलोक है; यही अविद्या है। इसके पार जानेके लिए इसीके भीतर होकर जाना होता है। किन्तु इस तरह जाना होता है कि यही चरम लक्ष्य न हो जाय। कर्मको ही एकदम प्रधानता देनेसे संसार ही चरम लक्ष्य होजाता है—अमृत प्राप्त करनेकी ओर लक्ष्य ही नहीं रहता, उसके लिए अवकाश ही नहीं रहता। इसी कारण हमारे यहाँ कर्मको एक सीमाके भीतर कर रक्खा है; कर्मको धर्ममें मिला दिया है; कर्मको प्रवृत्तिके हाथमें, उत्तेजनाके हाथमें, गतिके भारी झोंकेके हाथमें नहीं छोड़-दिया है। इसी कारण भारतवर्षमें भिन्न भिन्न कर्मोंको भिन्न भिन्न लोगोंकी श्रेणियोंमें बाँट दिया है।

धर्म और कर्मका सामञ्जस्य रखनेका, और मनुष्यके चित्तसे कर्मके अनेक बन्धनोंको ढीला करके उसको एक ओर संसार-व्रतमें तत्पर और दूसरी ओर मुक्तिका अधिकारी बनानेका, और कोई उपाय तो मुझे नहीं देख पड़ता।

इस सम्बन्धमें यह आपत्ति की जा सकती है कि समाजको इस तरह जकड़ कर अपनेको उसके भीतर बंद कर देनेसे मनुष्यकी स्वाधीन प्रकृति पीड़ित होती है। मनुष्यको छोटा करके समाजको बड़ा बनानेके कुछ माने नहीं है। मनुष्यके मनुष्यत्वकी रक्षाके लिए ही समाज है।

इसके उत्तरमें यही कहना है कि भारतवर्षने समाजके भीतर बँधे रहनेके लिए समाजको नियमबद्ध और सरल नहीं बनाया। उसने अपनेको सैकड़ों विभागोंमें बँटीहुई अन्ध-चेष्टामें अस्तव्यस्त न करके अपनी मिली हुई शक्तिको अनन्तकी ओर एकाग्र करनेके लिए ही जान बूझकर इच्छापूर्वक बाहरी विषयोंमें सङ्कीर्णता स्वीकार की थी। उसका यही उद्देश्य था कि नदीके तट-बन्धनकी तरह समाजका बन्धन उसे वेग देगा, कैद नहीं कर रक्खेगा। इसीसे भारतवर्षके सब अनुष्ठानों और कार्योंमें सुख-शान्ति-सन्तोषके बीच मुक्तिका आवाहन है। आत्माके परमानन्दमय ब्रह्ममें विकसित करनेके लिए ही भारतने समाज पर अपनी जड़ जमाई थी। यदि हम उस लक्ष्यसे भ्रष्ट हो जायँ—जड़ताके कारण उस परिणामकी उपेक्षा करें तो वह बन्धन कोरा बन्धन ही रह जाता है। तब अत्यन्त क्षुद्र सन्तोष और शान्तिका कुछ अर्थ ही नहीं रहता। किन्तु भारतवर्षका लक्ष्य क्षुद्र या साधारण नहीं है। इस बातको भारतवर्षने इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—" भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति "; अर्थात् महान्में ही सुख है, थोड़े या क्षुद्रमें सुख नहीं है। भारतकी ब्रह्मवादिनीने कहा है—" येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन

कुर्य्याम् ", अर्थात् जिससे अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँ। हम लोग केवल परिवारके सुप्रबन्ध और समाजकी सुव्यवस्थासे अमर नहीं हो सकते--उससे ही हमारे आत्माका विकास नहीं होगा। अच्छा तो फिर समाज यदि हमको सम्पूर्णरूपसे कृतकृत्य नहीं कर सकता--हमारे जन्मको सार्थक नहीं बना सकता, तो वह हमारा कौन है? समाजको रखनेके लिए हमको वञ्चित होना चाहिए--यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। यूरोप भी कहता है कि जो समाज individual को अर्थात् व्यक्तित्वको लँगड़ा बनाता और दबाता है उस समाजके विरुद्ध विद्रोह न करना हीनता स्वीकार करना है। भारतवर्षने भी निःसङ्कोच और निर्भय होकर कहा है कि " आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ", अर्थात् अपनी भलाई और उन्नतिके लिए सारी पृथ्वीको छोड़ना पड़े तो उसका भी त्याग कर देना उचित है। समाजको मुख्य मानना मानों उपायको उद्देश्य बनाना है। भारतवर्षने वह करना नहीं चाहा। इसी कारण उसका बन्धन जैसा दृढ़ है उसका त्याग भी वैसा ही सम्पूर्ण है। भारतवर्षने अपनेको सांसारिक परिपूर्णतासे घेर नहीं रक्खा था; जकड नहीं रक्खा था। उसने इसके विपरीत ही किया था। जिस समय सब संचित हो गया, भण्डार भरपूर होगया, पुत्रने बालिग होकर ब्याह कर लिया, जब ऐसी पूर्ण प्रतिष्ठित गृहस्थीमें आराम करनेका भोग करनेका अवसर उपस्थित हुआ, ठीक उसी समय हमारे यहाँ संसार त्यागनेकी व्यवस्था है। हमारे यहाँ ऐसा नियम है कि जबतक परिश्रम करना है तबतक तुम हो; जब परिश्रम बंद हुआ तब आराम-से फल भोग करके जड़ बनना मना है। संसारका काम पूरा होते ही संसारसे छुट्टी मिल गई। उसके बाद आत्माकी अनन्त-गतिमें कोई बाधा नहीं। वह निश्चेष्ट भाव या निठल्लापन नहीं है। संसारकी

दृष्टिसे वह जड़ता जान पड़ती है, परन्तु वास्तवमें वह जड़ता नहीं है। जैसे पहियेके अत्यन्त घूमते रहने पर वह दिखाई नहीं पड़ता वैसे ही आत्माकी वह अनन्त-गति निश्चेष्टता सी जान पड़ती है। आत्माकी उस गतिको—उस वेगको—चारों ओर तरह तरहसे व्यर्थ नष्ट न करके उस शक्तिको जगा देना ही हमारे समाजका काम था। हमारे समाजमें प्रवृत्तिको दबाकर नित्य निःस्वार्थ मङ्गल-साधन करनेकी जो व्यवस्था है, उसे ब्रह्मलाभका सोपान मानकर ही हम उससे अपना गौरव समझते हैं। वासना या प्रवृत्तिको छोटा करना ही आत्माको बड़ा करना है। इसीसे हम लोग वासनाको दबाते हैं—सन्तोषका अनुभव करनेके लिए नहीं। यूरोप मरनेको भी राजी है, किन्तु वासनाको छोटा करना नहीं चाहता। हम भी मरनेको राजी हैं, किन्तु आत्माको उसकी परम गति—परम सम्पत्तिसे वञ्चित करके छोटा बनाना नहीं चाहते। परन्तु अभाग्यवश इस दुर्गतिके दिनमें हम यह भूल गये हैं। हमारा समाज अब भी वही है, किन्तु उसके भीतरसे ब्रह्माभिमुखी—मोक्षाभिमुखी बेगवती प्रवाह-धारा 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्' की ध्वनिके साथ नहीं निकलती।—

"माला हुती तिहिके सब फूल गये झरि, बाकी रही अब डोरी।"

यही कारण है कि हमारा इतने दिनोंका समाज हमको बल नहीं देता, गौरव नहीं देता, आध्यात्मिकताकी ओर हमको अग्रसर नहीं करता। उसने हमको चारों ओरसे मानों जकड़ रक्खा है।

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब हम सचेत होकर इस समाजके महान् उद्देश्यको समझेंगे और उस उद्देश्यको सम्पूर्ण सफल करनेके

लिए जब कमर कसकर उठ खड़े होंगे, तभी दमभरमें बड़े हो जायँगे, मुक्त हो जायँगे, अमर हो जायँगे। उस समय जगत्‌में हमारी प्रतिष्ठा होगी—प्राचीन भारतके तपोवनमें महातपा महर्षियोंने जिस यज्ञका अनुष्ठान किया था वह सफल होगा। और, हमारे पूर्वज पितामहगण हम लोगोंके द्वारा कृतार्थ होकर हमको आशीर्वाद देंगे।
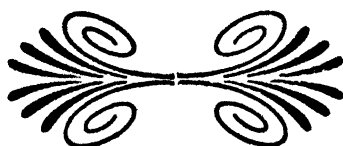
## समाज-भेद ।

गत जनवरी महीने (सन् १९०१ ई०) के 'कन्टेम्परारी रिव्यू' पत्रमें डाक्टर डिलनने "शेर चीन और बकरी यूरोप" हेडिंग देकर एक लेख लिखा है। उसमें युद्धके समय चीना लोगों पर यूरोपके अकथनीय अत्याचारका वर्णन किया गया है। चंगेज खाँ, तैमूरलंग आदि मनुष्यजातिके शत्रुओंकी इतिहास-प्रसिद्ध भयानक करतूत सभ्य यूरोपकी दबंग हैवानीके आगे मात हो गई—उसने भी सिर झुका लिया।

यूरोप अपनी दया-धर्म-पूर्ण सभ्यताकी बड़ाई करके एशियाको सदा धिक्कार दिया करता है। उसका जबाब देनेका मौका मिलनेसे हमें कुछ भी प्रसन्नता नहीं है । क्यों कि सबलके कलंककी बात जाहिर करके निर्बल उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता । किन्तु सबल जो दुर्बलको कलंक लगाता है वह निर्बलके लिए किसी न किसी समय सांघातिक हो जाता है ।

साधारणतः एशियाके लोगोंके चरित्रकी क्रूरता, बर्बरता और दुर्ज्ञेयता यूरोपियन समाजमें एक कहावतसी हो गई है। इसीसे आजकल ईसाई-समाजमें इस बात पर बड़ा जोर दिया जा रहा है कि यूरोपके आदर्श पर एशियाका विचार करना ठीक नहीं ।

हमने जब पहले पहल यूरोपकी शिक्षा पाई तब उससे यही समझा कि मनुष्य मनुष्यमें कुछ भेद नहीं है। इसीसे हम लोग इस ढंगसे तैयार

हो रहे थे कि जिसमें हमारे नये शिक्षक ( यूरोप ) में और हममें जो भेद है वह मिट जाय। इसी समय मास्टर साहबने अपना धर्मशास्त्र बंद करके कहा—पूर्व और पश्चिममें इतना अन्तर है कि वह किसी तरह मिटनेवाला नहीं।

बहुत अच्छा, अन्तर है तो बना रहे। विचित्रता ही संसारके स्वास्थ्यकी रक्षा करनेवाली है। पृथ्वीपर जाड़ा-गर्मी सर्वत्र समान नहीं है, इसीसे वायु चलती है। सभ्यताके भिन्न भिन्न आदर्श भिन्न भिन्न रूपोंमें सार्थक होकर अपनी स्वतन्त्रता बनाये रक्खें। ऐसा होनेसे, उस स्वतन्त्रतासे परस्पर, एक दूसरेके निकट, शिक्षाका लेन-देन हो सकता है।

किन्तु, अब तो देखते हैं कि गालीगलौज और गोले-गोलियोंका लेन देन होने लगा है। नई ईसवी-सदीका यों आरंभ हुआ है।

भेद है, यह स्वीकार करके बुद्धि, प्रीति, सहृदयता और विनयके साथ उसके भीतर प्रवेश करनेकी योग्यता या क्षमता यदि नहीं है तो ईसाकी शिक्षा पाकर १९०० वर्षतक तुमने क्या किया? तुम तोपके गोलेसे पूर्वी दुर्गकी दीवार तोड़कर सब एकाकार कर दोगे, या कुंजीसे उसका फाटक खोलकर भीतर घुसोगे?

चीना लोगोंने पादरियों पर आक्रमण किया, इसीसे चीनमें वर्त्तमान विद्रोहका सूत्रपात हुआ है। यूरोपके जीमें सहज ही यह बात आसकती है कि धर्मके प्रचार या शिक्षाके विस्तार पर चीनका यों जोशमें आ-जाना या उदारता न दिखाना उसके जंगलीपन या असभ्यताको प्रमाणित करता है। पादरी लोग चीनका राज्य जीतने तो गये ही न थे।

यहीं पर पूर्व और पश्चिममें भेद है और उस भेदको यूरोप श्रद्धा और सहिष्णुताके साथ समझनेकी चेष्टा नहीं करता। इसका कारण यही है कि उसके शरीरमें बल है।

चीनका राज्य चीनके राजाका है। यदि कोई राज्य पर चढ़ाई करे तो राजा राजामें लड़ाई छिड़ जायगी। उससे प्रजाकी जो हानि होगी वह वैसी सांघातिक नहीं। किन्तु यूरोपमें राजाका राज्य नहीं है वहाँ सारा राज्य ही राजा है। राष्ट्रतन्त्र ही यूरोपकी सभ्यताका शरीर है। इस शरीरको चोटसे बचाये रक्खे बिना उसके प्राण नहीं बच सकते। यही कारण है कि यूरोपियन लोग और किसी चोटका वजन ध्यानमें लाही नहीं सकते। विवेकानन्द अगर यूरोपमें जाकर वेदान्त-मतका प्रचार करें, अथवा धर्मपाल यदि वहाँ अँगरेज-बौद्ध-सम्प्रदायकी स्थापना करें तो उससे यूरोपके शरीरमें चोट नहीं लगती। क्यों कि यूरोपका शरीर धर्म नहीं, राष्ट्रतन्त्र है। इंग्लेंड जिब्राल्टर पहाड़की रक्षामें जान लड़ा देगा, किन्तु ईसाई-धर्मके सम्बन्धमें सावधान होनेकी वह जरूरत नहीं समझता।

पूर्वी देशोंमें ठीक इससे उलटा है। पूर्वी सभ्यताका कलेवर धर्म है। धर्म माने रिलिजन नहीं। उसके माने हैं सामाजिक कर्त्तव्य-तन्त्र। उसके भीतर यथोचित रूपसे रिलिजन पालिटिक्स आदि सब कुछ है। उसपर चोट करनेसे सारे देशके हृदयमें व्यथा होती है। क्यों कि समाज ही उसका मर्मस्थान है। उसकी जीवनी शक्तिका और कोई आधार नहीं है। शिथिल राजशक्ति इतने बड़े चीनमें सर्वत्र अपना जोर नहीं दिखा सकती। राजधानीसे दूर पर जो देश हैं वहाँ राजाकी आज्ञा पहुँचती है; परन्तु राजाका प्रताप नहीं पहुँचता। मगर तब भी वहाँ शान्ति है, सुशृंखला ( ठीक बन्दोबस्त ) है, सभ्यता है। डाक्टर डिल-नने इसपर आश्चर्य प्रकट किया है। थोड़ासा बल खर्च करके इतने बड़े राज्यको सँभाले रखना सहज बात नहीं है।

किन्तु इतना बड़ा चीनदेश शस्त्रके शासनसे नहीं, धर्मके ही शासनसे सँभला हुआ है। पिता-पुत्र, भाई-बहन पति-पत्नी, पास

परोसी, राजा-प्रजा, पुरोहित-यजमान, सब इस धर्मको मानते हैं। बाहर चाहे जितना गदर मचे, राजसिंहासन पर चाहे जो कोई बैठे, कोई हानि नहीं। इस धर्मने बहुविस्तृत चीन देशके भीतर रहकर अखण्ड-नियमसे उस विशाल जन-समाजको सँभाल रक्खा है। उस धर्म पर धक्का पहुँचनेसे चीनको मृत्युकी ऐसी व्यथा होती है और वह आत्मरक्षाके लिए निठुर हो उठता है। उस समय उसे कौन रोक सकता है? उस समय उसके आगे राजा भी कुछ नहीं और राजाकी सेना भी कुछ नहीं है। उस समय चीन-साम्राज्य नहीं, चीना जाति जाग उठती है।

एक छोटेसे दृष्टान्तसे मेरा मतलब खुलासा हो जायगा। अँगरेजका परिवार किसी व्यक्तिके जीते रहनेतक उससे सम्बन्ध रखता है। किन्तु हमारा परिवार कुलका एक अंग है। इतने ही अन्तरसे सब अलग हो जाता है। अँगरेज लोग इस अन्तरको समझे बिना हिन्दू-परिवारकी व्यथाको खयालमें ही नहीं ला सकते। यही कारण है कि वे हमारी बहुतसी बातोंको देख सुनकर उन्हें सह नहीं सकते, हमको नफरतकी निगाहसे देखने लगते हैं। ऐसा होता है और हमेशा ही होता रहेगा। हिन्दूपरिवारमें कुल-सूत्रसे जीवित, मृत और आगे पैदा होनेवाले—जिनका अभी जन्म ही नहीं हुआ—सब परस्पर संयुक्त हैं। इस लिए, हिन्दूपरिवारमेंसे अगर कोई कुल-त्याग कर बाहर हो जाय तो इससे परिवारको कैसी कड़ी चोट पहुँचती है—इस बातको अँगरेज लोग नहीं समझ पाते। क्यों कि अँगरेज-परिवारमें पति-पत्नी-सम्बन्धके सिवा और कोई दृढ़बन्धन नहीं है।

इसीसे हिन्दूसमाजमें विधवाका विवाह विहित होने पर भी प्रचलित नहीं हुआ। क्योंकि जीवित प्राणी जैसे अपने किसी जानदार अंगको काटकर अलग कर देना नहीं चाहता, वैसे ही हिन्दू-परि

वार भी विधवाको छोड़कर अपनेको घायल करनेके लिए तैयार नहीं है। हिन्दूसमाज बाल्यविवाहको भी इसीसे अच्छा समझता है। वह जानता है कि प्रेम पैदा होनेके लायक अवस्थामें ही स्त्री-पुरुषका यथार्थ मिलन हो सकता है, यह सच है; परन्तु सारे परिवारके साथ मिलन और स्नेह होनेका समय बाल्यकाल ही है।

दूसरे पहलूसे देखने पर विधवा-विवाहका निषेध और बाल्यविवाहकी व्यवस्था भले ही हानिकारक हो, किन्तु जो आदमी हिन्दू-समाजकी स्थिति या संगठनको अच्छी तरह समझता है, वह विधवा-विवाहके निषेध और बाल्य-विवाहके विधानको जंगलीपन या असभ्यता कहकर नहीं उड़ा दे सकता। भारतवर्षकी रक्षाके लिए, बहुत खर्च पड़ने पर भी, जैसे अंगरेजोंको जिब्राल्टर, माल्टा, स्वेज और अदनकी रक्षा करनी पड़ती है, वैसे ही, हानि सहकर भी, परिवारकी दृढ़ता और अखण्डता बनाये रखनेके लिए, हिन्दुओंको भी इन सब नियमोंका पालन करना पड़ता है।

इस पर अँगरेज लोग यह तर्क उठा सकते हैं कि इस तरह सुदृढ़-भावसे परिवार और समाजका संगठन अच्छा है कि नहीं? हम कहते हैं कि राष्ट्रीय स्वार्थको सबके ऊपर रखकर पोलिटिकल दृढ़ता साधना अच्छा है या नहीं? यह भी तर्कका विषय है। देशकी और सब जरूरतोंको दिन दिन दबाकर सेना बढ़ानेमें यूरोप पिसा जा रहा है—सेनाके बेहद बोझसे उसका सामञ्जस्य नष्ट हो रहा है। इसकी इति कहाँ पर होगी? निहिलिस्टोंके आग्नेय उत्पातमें (डिनामाईट या बमके गोलोंके उपद्रवमें) या आपसकी प्रलयकारी टक्करमें? यदि यह सत्य हो कि हम स्वार्थ और स्वेच्छाचारको सहस्र बन्धनोंसे जकड़े पकड़े रहनेके कारण मर रहे है तो इसकी भी अभी परीक्षा

बाकी है कि यूरोप स्वार्थ और स्वाधीनताका मार्ग खोलकर चिरजीवी हो सकेगा या नहीं।

जो कुछ हो। पूर्व और पश्चिमके ये सब भेद सोचने और समझनेकी बातें हैं। जब यूरोपकी रीतियों पर विचार किया जाता है तब यूरोपके समाजतन्त्रके साथ उसको मिलाकर विचार न करनेके कारण हम लोगोंके मनमें भी उनके प्रति प्रायः अनुचित घृणा उत्पन्न होती है। इसका उदाहरण एक यही है कि हम लोग विलायती-समाजकी इस रीति पर कटाक्ष किया करते हैं कि उनके यहाँ लड़कियाँ जवानी तक क्वाँरी रक्खी जाती हैं। यह प्रथा हम लोगोंके यहाँ प्रचलित नहीं है, अथवा यों कहो कि हमको इसका अभ्यास नहीं है। इस कारण हम लोग इस बारेमे तरह तरहकी आशंकायें किया करते हैं। किन्तु, इस पर हम विचार ही नहीं करते कि बालविधवाको जिन्दगीभर अविवाहित रखना उससे भी बढ़कर खटकेकी बात है। क्वाँरी लड़कीके बारेमें हम कहते है कि मनुष्यप्रकृति कमजोर है, परन्तु विधवाके बारेमें कहते हैं कि शिक्षा और साधना ( अभ्यास ) से स्वभाव वशमें किया जा सकता है। किन्तु असल बात तो यह है कि ये सब नियम किसी नीतिके तत्त्वसे नहीं निकले हं; आवश्यकताके मारे बन गये हैं। हिन्दूसमाजके लिए छोटी अवस्थामें कन्याका ब्याह जैसे जरूरी है, वैसे ही विधवाका चिरकालतक विधवा रहना भी जरूरी है। इसी कारण आशंका होने पर भी विधवाका विवाह नहीं होता और अनिष्ट और असुविधाके रहते भी कुमारीका बाल्यविवाह होता है। आवश्यकताके अनुरोधसे ही यूरोपमें, अधिक अवस्थामें कुमारीका विवाह और विधवाका पुनर्विवाह प्रचलित हुआ है। वहाँ नाबालिग लड़कीके साथ अलग गृहस्थी चलाना संभव नहीं है, और विधवाको भी किसी परिवारमें आश्रय नहीं मिलता—

उसके लिए बहुत करके फिर विवाह करना अत्यन्त आवश्यक होता है। यह नियम विशेषरूपसे यूरोपियन समाजतन्त्रकी रक्षाके लिए अच्छा है-उसके अनुकूल है। इसी कारण यह अच्छा है। इसकी और जो कुछ अच्छाइयाँ हैं वे गौण हैं।

समाजमें आवश्यकताके अनुरोधसे जो नियम प्रचलित होता है उसके साथ धीरे धीरे भावका सौन्दर्य भी आ-मिलता है। अधिक अवस्थाके कुमार और कुमारियोंके स्वाधीन प्रेमके जोशका सौन्दर्य यूरोपियनोंके चित्तको कैसा भा-गया है—उसने उनके हृदय पर कैसा अधिकार जमा लिया है, यह यूरोपियन साहित्य पढ़नेसे ही जाना जा सकता है। यूरोपियन कवियोंने उस प्रेमके आदर्शका चमत्कार-पूर्ण दिव्य वर्णन किया है।

हमारे देशमें पतिव्रता घरवालीके कल्याण-परायण सुन्दर भावने ही हिन्दुओंके हृदय पर अधिकार कर लिया है। उसी भावके सौन्दर्यने हमारे साहित्यमें अन्य सब प्रकारके साहित्योंसे ऊँचा स्थान पाया है। इसकी आलोचना किसी दूसरे प्रबन्धमें की जायगी।

किन्तु इसीसे यदि हम उस स्वाधीन प्रेमके सौन्दर्यका अनादर करेंगे जिससे सारा यूरोपियन समाज उज्ज्वल हो उठा है तो उससे हम लोगोंका अंधापन और मूर्खता ही प्रकट होगी। वास्तवमें अगर देखा जाय तो वह सौन्दर्य हमारे मनको भी भाता है। यदि ऐसा न होता तो अँगरेजीके काव्य और उपन्यास हमारे लिए व्यर्थ होते। सौन्दर्यके लिए हिन्दू और अँगरेजकी जातिका कोई पक्षपात नहीं है। अँगरेज-समाजके आदर्श-सौन्दर्यको साहित्य जब स्पष्ट करके दिखलाता है तब वह हमारे जातीय संस्कारको दबाकर हृदयमें प्रकाशित हो उठता है। वैसे ही, हमारे हिन्दू-परिवारके आदर्शमें जो एक कल्याणमयी सुन्दरताकी शोभा है उसको यदि अँगरेज न देख पावें तो अँगरेज इस अंशमें अवश्य ही असभ्य हैं।

यूरोपियन समाजने अनेक महात्मा लोगोंको पैदा किया है। वहाँ शिल्प, विज्ञान और साहित्य नित्य उन्नति करता चला जारहा है। यह समाज आप ही अपनी महिमाको पग पग पर प्रमाणित करता हुआ आगे बढ़ रहा है। यदि इसका अपना ही घोड़ा न भड़क उठे तो हम ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते कि इसके रथको बाहरका कोई रोक सकेगा। ऐसे गौरवान्वित समाजको श्रद्धाके साथ सूक्ष्म दृष्टिसे न देख कर जो लोग उस पर व्यंगवर्षा करते हैं वे इस देशके सुलभ लेखक बिना जाने अपनी ही हँसी उड़ाते हैं।

दूसरी ओर, इधर, कई सौ वर्षोंका लगातार विप्लव जिस समाजको मिट्टीमें नहीं मिला सका; हजारों दुर्गति सह कर भी जिस समाजने भारतवर्षको दया-धर्म और कर्तव्यके आधार पर सँभाल रक्खा है— रसातलमें नहीं जाने दिया है; जो समाज सावधानीके साथ हिन्दू-समाजकी बुद्धि और प्रवृत्तिकी इस प्रकार रक्षा करता आया है कि बाहरसे मसाला पाते ही वह प्रज्वलित—प्रकाशित हो सकती है; जिस समाजने मूढ़ और अशिक्षित लोगोंकी मण्डलीको भी पग पग पर प्रवृत्ति-दमनपूर्वक अपने परिवार समाजके लिए स्वार्थत्याग करनेको अपने तईं वार देनेको लाचार किया है; उस समाजको जो मिशनरी(पादरी) श्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देखते वे भी श्रद्धाके योग्य नहीं है। उनको यह समझना चाहिए कि यह विराट् समाज एक बड़े भारी प्राणीके समान है। आवश्यक होने पर भी, इसके किसी एक अंग पर चोट करनेके पहले इस प्राणीके शरीर-तत्त्वकी आलोचना कर लेनेकी बड़ी जरूरत है।

असलमें सभ्यतायें भिन्न भिन्न हैं और यह विभिन्नता या विचित्रता ही विधाताको मंजूर है। यदि इस विभिन्नताके भीतर हम लोग ज्ञानसे उज्ज्वल सहृदयता लेकर परस्पर प्रवेश कर सकें तो इस विचित्रताकी

सार्थकता हो जाय। जो शिक्षा और अभ्यास उस प्रवेशके द्वारको बंद कर देता है वह जंगलीपनकी सीढ़ी है। उसीसे अन्याय, अविचार और निठुराईकी उत्पत्ति होती है। सच्ची या असली सभ्यताका लक्षण क्या है? असली सभ्यता वही है जो सर्वज्ञ और सबमें प्रवेश करनेवाली है। जो पश्चिमी सभ्यताको सदा हँसा करती और धिक्कारें देती है वह 'हिन्दुआनी' है, हिन्दूसभ्यता नहीं है। वैसे ही जो पूर्वी सभ्यताको कुछ भी नहीं मानती वह 'साहबियाना' है, यूरोपकी सभ्यता नहीं है। जो आदर्श दूसरे आदर्शसे द्वेषभाव रखता है वह आदर्श ही नहीं है।

आजकल यूरोपमें इस अन्ध-विद्वेषने सभ्यताकी शान्तिको कलुषित कर दिया है। रावण जब स्वार्थमें अन्धा होकर अधर्ममें प्रवृत्त हुआ तब लक्ष्मीने उसे त्याग कर दिया। आधुनिक यूरोपके देव-मण्डपसे लक्ष्मी मानों बाहर निकल पड़ी हैं। इसी कारण बोअरोंके नगरमें अग्नि-वर्षा हो रही है, चीनमे पशुभावने लज्जाका परदा हटा दिया है और धर्म-प्रचारकोंकी निष्ठुर बातोसे धर्म पीड़ित हो रहा है।

## धर्म-बोधका दृष्टान्त ।

किसी अँगरेज अध्यापकने इस देशमें जूरी-द्वारा विचार होनेके सम्बन्धमें आलोचना करते हुए कहा था कि जिस देशके अर्ध-सभ्य लोग प्राणके माहात्म्य (Sanctity of life) को नहीं समझते उनके हाथमें जूरीके द्वारा विचार होनेका अधिकार देना ठीक नहीं ।

अच्छा, यह बात मान ही ली कि अँगरेज लोग हमारी अपेक्षा प्राणके माहात्म्यको अधिक समझते हैं, तब तो जो अँगरेज किसीके प्राण लेते हैं उनका वह अपराध हमारे अपराधसे कहीं भारी है । क्यों कि हम प्राणका माहात्म्य नहीं समझते और वे समझते हैं । मगर देखनेमें आता है कि देसी आदमीकी हत्या करके कोई भी अँगरेज-खूनी अँगरेज जज और अँगरेज जूरीके विचारसे फाँसी पर नहीं चढ़ा । प्राणकी महिमाके सम्बन्धमें उनकी सूक्ष्म विचारशक्तिका प्रमाण अँगरेज अपराधी शायद पाता हो, परन्तु देसी लोगोंको तो वह प्रमाण असम्पूर्ण ही जान पड़ता है ।

इस प्रकारका विचार हमको दोनों ओरसे चोट पहुँचाता है । प्राण जो जाना होता है सो तो जाता ही है, उधर मान भी नष्ट होता है । ऐसे विचारसे हमारी जातिके प्रति जो अनादर प्रकट होता है वह हम सबके ही मनमें खटकता है ।

इँग्लेडमें ‘ ग्लोब ’ नामका एक अखबार है । वह वहाँके भले आदमियोंका ही अखबार है । उसने लिखा है कि टॉमी ऐट्किन ( अर्थात्

पल्टनी गोरे ) देसी लोगोंको मार डालनेकी नियतसे नहीं मारते। देसी लोग ऐसे ( बोदे ) होते हैं कि मार खाते ही मर जाते हैं। इसी कारण टॉमी बेचारेको हलकी सजा मिलने पर देसी अखबार चिल्लाने लगते हैं।

टॉमीके लिए बड़ी हमदर्दी देख पड़ती है, किन्तु वह Sanctity of Life (प्राणका माहात्म्य) कहाँ है? जिस पाशव आघातसे हम लोगोंकी तिल्ली फटती है उसी आघातका वेग क्या उक्त भद्र अखबारकी इन कई लाइनोंमें भी नहीं है? अपनी जातिके किये हुए खूनको कोमल स्नेहके साथ देखकर मरे हुए आदमीके घरवालोंके विलापको जो लोग खीझके साथ धिक्कार देते हैं वे भी क्या खूनकी हिमायत नहीं करते?

कुछ दिनोंसे हम देखते हैं कि यूरोपियन सभ्यतामें साधारणतः धर्मनीतिका आदर्श अभ्यास पर ही प्रतिष्ठित हो रहा है। धर्म-बोधकी शक्ति इस सभ्यताके अन्तःकरणमें उदय नहीं हुई। यही कारण है कि उसके धर्मबोधका आदर्श अभ्यासके घेरेके बाहर मार्ग ही नहीं ढूँढ़ पाता; प्रायः विपथमें विपन्न हो जाता है।

यूरोपियन समाजमें अपने ही घरमें मारकाट और खूनखराबी नहीं हो सकती; क्यों कि ऐसा व्यवहार वहाँके सर्व साधारणके स्वार्थका विरोधी है। कई सदियोंसे, धीरे धीरे, यूरोपका विष देकर या हथियारसे खून करनेका अभ्यास छूट गया है।

मगर हत्या तो बिना हथियार चलाये—बिना खून बहाये भी हो सकती है। धर्मका बोध अगर बनावटी न हो, हार्दिक हो, तो ऐसी बिना हथियारकी हत्या भी असम्भव होजाती है और निन्दनीय समझी जाती है।

एक विशेष दृष्टान्तके द्वारा हम अपने कथनको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे।

हेनरी सावेज लेंडर एक प्रसिद्ध भ्रमणकारी हैं। तिब्बतके तीर्थ-स्थान लासामें जानेकी उनको प्रबल इच्छा हुई। सभी जानते हैं कि तिब्बती लोग यूरोपियन यात्रियों और पादरियोंको सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं। उनके यहाँकी बीहड़ राहें और घाटियाँ विदेशियोंको माल्रूम नहीं हैं। और सच तो यह है कि यही उनकी आत्मरक्षाका प्रधान अस्त्र है। यदि वे लोग इस अस्त्रको भूगोलका पता लगानेवाली जिओग्राफिकल सोसाइटीके हाथमें सौंपकर निश्चिन्त बैठना न पसंद करें तो उनको दोष नहीं दिया जा सकता।

किन्तु यूरोपका यह धर्म है कि और लोग उसका निषेध मानें, पर वह किसीका निषेध न मानेगा। कोई मतलब हो या न हो, केवल विपत्तिको लाँघनेकी बहादुरी दिखानेसे यूरोपमें इतनी वाहवाही मिलती है कि उसे पानेके लिए बहुतोंके मुँहमें पानी भर आता है। यूरोपके बहादुर लोग देश और परदेशमें विपत्तिको खोजते फिरते हैं। चाहे जिस उपायसे हो, जो यूरोपियन लासामें पदार्पण करेगा उसकी प्रसिद्धि और प्रशंसा बेहद होगी।

अतएव बर्फ-मय हिमालय और तिब्बतियोंके निषेधको चकमा देकर लासामें जाना ही होगा। लेंडर साहबने कमाऊँ-अलमोड़ासे इस यात्राका आरंभ किया। उनको एक हिन्दू नौकर भी साथी मिल गया। उसका नाम चन्दनसिंह था।

कमाऊँ प्रान्तमें, तिब्बतकी सीमा पर, ब्रिटिशराज्यमें शोका नामकी एक पहाड़ी जाति बसती है। उस जातिके लोग तिब्बतियोंके डर और उपद्रवसे काँपा करते हैं। लेंडर साहबने इस बातके लिए वारंवार आक्षेप और खेद प्रकट किया कि ब्रिटिश सरकार तिब्बतियोंके उप-द्रवसे उन लोगोंकी रक्षा नहीं कर सकती। उन्हीं शोका लोगोंमेंसे ही

साहब बहादुरको अपने लिए कुली-मजदूर जुटाने थे। बड़ी मुशकिलसे साहबको तीस कुली मिले।

इसके बाद यात्रामें साहबको बड़ी चिन्ता रही कि कुली लोग कहीं छोड़कर भाग न जायँ। साहबने इसके लिए चेष्टा भी बहुत की। कुलियोंके भाग जानेका यथेष्ट कारण भी था। लेंडर साहबने अपने भ्रमण वृत्तान्तके पचीसवें परिच्छेदमें लिखा है कि "ये कुली जब चुपचाप मन मारे पीठ पर बोझा लादे करुणाजनक श्वास-कष्टसे हाँफते हाँफते ऊँचेसे और भी ऊँचे पर चढ़ते थे तब जीमें यह खटका होता था कि इनमेंसे कितने आदमी लौटकर जा सकेंगे!"

हमारा प्रश्न यही है कि जब तुमको यह खटका था तब उन अनिच्छुक अभागोंको मार मार कर मौतके मुँहमें लेजाना क्या कहा जा सकता है? तुमको तो गौरव मिलेगा, और उसके साथ ही धन पानेकी भी यथेष्ट संभावना है। तुम उस गौरव और धनकी आशासे जान पर खेलो तो ठीक भी है। लेकिन इन कुली बेचारोंको क्या पानेका लोभ है?

विज्ञानकी उन्नतिके लिए यूरोपमें जीवोंके शरीरोंकी चीरफाड़ (Vivisection) पर अनेक तर्क-वितर्क हुआ करते हैं। इसकी भी आलोचना होती है कि जीते हुए जीव-जन्तुओंको लेकर परीक्षा करनेके समय कष्टनाशक दवाका प्रयोग करना उचित है या नहीं। किन्तु बहादुरी दिखाकर वाहवाही लूटनेके मतलबसे, बहुत दिनोंतक, अनिच्छुक मनुष्योंपर जो असह्य अत्याचार होता है उसका विवरण भ्रमण-वृत्तान्तके ग्रन्थोंमें प्रकाशित होता है; समालोचक लोग उसकी तारीफमें तालियाँ पीटते हैं; पुस्तकके संस्करण पर संस्करण होते चले जाते हैं और हजारों पाठिकायें और पाठक इन सब वर्णनोंको विस्मयके साथ

पढ़ते और आनन्दके साथ उनकी आलोचना या चर्चा करते हैं। यह सब क्या है? बीहड़ बर्फीली राहमें बेचारे सीधेसादे शोका कुलियोंने रातदिन जो असह्य कष्ट भोग किया उसका परिणाम क्या है? मान लो कि लेंडर साहब लासा पहुँच गये; पर उससे जगत्का ऐसा कौन उपकार होना संभव है जिसके लिए इन सब डरेहुए, पीड़ित और इसीसे भागनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको दिनरात, इतना कष्ट देकर, मार मार कर मौतके मुँहमें लेजाना जरा भी उचित समझा जा सके? किन्तु कहाँ, इसके लिए तो लेखकको संकोच नहीं है, पाठकोंको दया नहीं है।

लेंडर साहब जानते थे कि तिब्बती लोग कैसी निर्दयतासे अत्याचार और हत्या कर सकते हैं, और इस कारण शोका लोग तिब्बतियोंको कैसा डरते हैं, तथा उनको तिब्बतियोंके हाथसे उबारने या बचानेमें ब्रिटिश सरकार कैसी असमर्थ है। वह यह भी जानते थे कि उनमें जो उत्साह, जोश और लालच काम कर रहे हैं, शोका कुलियोंमें उनका लेश भी नहीं है। इस पर भी, लेंडर साहबने अपने ग्रंथके १६५ पृष्ठमें जिस भाषामें जिस भावसे अपने कुलियोंके भय और दुःखका वर्णन किया है उसका तर्जुमा नीचे दिया जाता है—

“ उनमेंसे हर एक, हाथसे मुँह ढककर व्याकुल होकर रोता था। आँखोंसे आँसुओंकी धारा वह रही थी। वे सिसक सिसक कर बिलख रहे थे। और, जिस डाकू और एक दूसरे तिब्बतीने मेरा काम लिया था और जिन्होंने डरके मारे भेष बदल लिया था, वे; उन लोगोंके बोझके पीछे छिपकर बैठे थे। हम लोग यद्यपि सङ्कटकी अवस्थामें थे तो भी अपने कुलियोंकी ऐसी व्याकुलता देखकर मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका ”।

इसके बाद उन अभागोंने भागनेका इरादा किया तो लेंडर साहबने यह कहकर उनको निरस्त किया कि जो कोई भागने या दंगा मचानेकी चेष्टा करेगा उसे मैं गोली मार दूँगा !

कैसे साधारण कारणसे लेंडर साहबके मनमें गोली मार देनेकी उत्तेजना उत्पन्न हो उठती है, इसका परिचय आगे चलकर मिलेगा। जब तिब्बतके हाकिमने लेंडर साहबको पहली बार मना किया तब उन्होंने ऐसा ढोंग रचा, मानों वह लौटे जा रहे हैं। उन्होंने एक पहाड़ी दर्रेमें उतरकर दूरबीनसे देखा कि पहाड़की चोटी पर कोई तीस सिर पत्थरकी आड़से झाँक रहे हैं। इस पर साहब लिखते हैं कि " मुझे बड़ा बुरा लगा। यदि वे मेरा पीछा ही करना चाहते हैं तो खुल्लमखुल्ला ही मेरा पीछा क्यों नहीं करते—दूरसे छिपकर देखभाल करनेकी या पहरा देनेकी क्या जरूरत! अतएव मैं आठसौ गज तक निशाना मारनेवाली अपनी राइफेल ( बन्दूक ) लेकर जमीन पर लेट गया और जो सिर सबसे साफ देख पड़ता था उस पर वार करनेके लिए मैंने निशाना ठीक किया"।

साहबके इस "अतएव" में बहार है ! छिपकर काम करनेसे साहबको बड़ी ही नफरत है ! उन्होंने और उनके साथी और एक पादरी साहबने अपनेको हिन्दू तीर्थयात्री बताया, और जाहिरामें भारतवर्षको लौट जानेका ढोंग करके छिपे तौरसे लासामें जानेका उद्योग किया; परन्तु दूसरोंका छिपकर काम करना उनको इतना असह्य है कि उन्होंने, जमीन पर लेटकर, अपनेको छिपाकर, आठसौ गजी बन्दूक तानकर कहा-" I only wish to teach these cowards a lesson" अर्थात् मैं इन कायरोंको शिक्षा देना चाहता हूँ! दूरसे छिपकर बन्दूक चलानेमें साहब जिस पौरुषका परिचय दे रहे थे उसका विचार कर-

नेवाला वहाँ कोई न था । हमने अपने प्राचीन लोगोंकी कमजोरीकी बहुत बातें सुनी हैं, किन्तु चलनी होकर सुईके छेदका विचार करनेकी प्रवृत्ति, पाश्चात्य लोगोंकी तरह, हम लोगोंमें नहीं है । असल बात यह है कि शरीरमें जोर रहनेसे विचारासन पर अकेले दखल कर लिया जाता है, और तब दूसरों पर घृणा करनेका अभ्यास ही जड़ पकड़ लेता है, अपनी ओर देखनेका अवसर ही नहीं मिलता ।

एशिया और आफ्रिकामें भ्रमण करनेवाले साहब लोग अनिच्छुक कुली-मजदूरों पर जो अत्याचार करते हैं, और नये नये देश खोज निकालनेकी उत्तेजनामें उन लोगोंको जिस तरह छल-बल-कौशलसे विपत्ति और मौतके मुँहमें ढकेल लेजाते हैं सो किसीसे छिपा नहीं है। तथापि, sanctity of Life के सम्बन्धमें इन सब पाश्चात्य सभ्य जातियोंकी समझ अत्यन्त तीव्र होने पर भी, कहींसे उसका प्रतिवाद नहीं सुनाई पड़ता । इसका कारण यही है कि धर्मबोध पश्चिमी सभ्यताकी हार्दिक वस्तु नहीं है । वह, स्वार्थ-रक्षाके स्वाभाविक नियमसे, बाहरसे प्रकट हो गया है । इसीसे यूरोपियन घेरेके बाहर वह दूसरा रूप धारण कर लेता है । यहाँ तक कि उस घेरेके भीतर भी जहाँ स्वार्थ-बोध प्रबल है वहाँ पर दयाधर्मकी रक्षा करनेकी चेष्टाको कमजोरी कहकर यूरोप उससे घृणा करने लगा है । वहाँ युद्धके समय विरुद्ध पक्षका सर्वस्व जला देने या उन लोगोंके अनाथ बच्चों और स्त्रियोंको कैद करनेके विरुद्ध कुछ कहना सेन्टिमेन्टॅलिटी [ महज खयाल ही खयाल ] समझा जाता है । यूरोपमें साधारणतः झूठ बोलना बुरा समझा जाता है किन्तु 'पालिटिक्स' में देखते हैं कि एक पक्ष दूसरे पक्ष पर, झूठ बोलनेका कलंक हमेशा लगाया ही करता है । महामति ग्लाडस्टन भी इस कलंकसे नहीं बचे । इसी कारणसे चीन-युद्धमें यूरोपियन सेनाका

उपद्रव हैवानीकी हदको भी लाँघ गया था और कंगो-प्रदेशमें स्वार्थान्ध बेलजियमका बर्ताव पिशाची लीलाके पास पहुँच गया है।

दक्षिण-अमेरिकामें नीग्रो लोगोंके साथ कैसा व्यवहार किया जा रहा है, इसका विवरण न्यूयार्कसे प्रकाशित होनेवाले 'पोस्ट' अखबार-से २ जुलाई (सन् १९०३) के विलायती डेलीन्यूज अखबारमें उद्धृत किया गया है। मामूली अपराधके बहाने नीग्रोजातिके नर-नारी पुलीस कोर्टमें हाजिर किये जाते हैं। वहाँ माजिस्ट्रेट उन पर जुर्माना करते हैं। अदालतमें पहलेहीसे उपस्थित रहनेवाले गोरे लोग वह जुर्माना दे देते हैं और फिर उस रुपयेके बदले उन नीग्रो स्त्री-पुरुषोंको अपना गुलाम बना लेते हैं। उसके बाद, फिर तो चाबुक, लोहेकी जंजीर और अन्यान्य ऐसे ही अनेक उपायोंसे आज्ञा न मानने और भागनेसे उनकी रखवाली की जाती है। एक नीग्रो स्त्रीको तो चाबुक मारते मारते मार ही डाला। एक नीग्रो स्त्री दो पति करने ( Bigamy ) के अपराधमें गिरफ्तार की गई। हाजतमें रहनेके समय एक बैरिस्टरने उसकी ओरसे पैरवी करना स्वीकार किया। किन्तु मुकद्दमा नहीं चला और वह निरपराध कहकर छोड़ दी गई। बैरिस्टर साहबने तब भी फीसका दावा किया और उसके बदलेमें उस स्त्रीको मेक्री-कैम्पमें १४ महीने काम करनेके लिए भेज दिया। वहाँ ९ महीने तक, मकानमें ताला बंद करके उसके भीतर उससे काम कराया गया, और जबर-दस्ती दूसरे आदमीसे उसका ब्याह कराकर कहा गया कि पहले पतिसे तेरी कभी मुलाकात नहीं होगी। जिसमें वह भाग न जाय, इस लिए उसके पीछे कुत्ते लगा दिये गये, उसके मालिक मेक्रीने अपने हाथसे उसके चाबुक मारे और उससे कसम ले ली कि छूटने पर उसे सबसे कहना होगा कि मैं पाँच डालर हर महीने तनख्वाह पाती थी।

डेलीन्यूज कहता है कि रूसमें यहूदियोंकी हत्या और कंगोमें बेलजियमके अत्याचार आदिके लिए परोसियों पर दोषारोप करना कठिन हो गया है—After all, no great power is entirely innocent of the charge of treating with barbarous harshness the alien races which are subject to its rule.

हमारे देशमें जो धर्मका आदर्श है वह हृदयकी चीज है—बाहरी घेरेमें रखनेकी नहीं है। हम यदि Sanctity of life को एक बार करते हैं तो फिर पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि किसी पर इसकी एक हद नहीं बाँध लेते। भारतवर्ष एक समय मांसभोजी था—मगर आज मांस खाना उसने निषिद्ध मान लिया है। मांसाहारी जातिने अपनेको उसके स्वादसे वञ्चित करके मांस खाना एकदम छोड़ दिया है। जगत्भरमें शायद स्वार्थत्यागका ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। भारतवर्षमें देखा जाता है कि अत्यन्त गरीब आदमी भी जो कमाता है उसे दूरके सम्बान्धियोंमें बांट देनेसे भी नहीं हिचकता। स्वार्थकी भी एक उचित सीमा है—उचित अधिकार है, इस बातको हम लोगोंने, सब तरहसे असुविधा सहकर भी, यथा सम्भव दबा रक्खा है। हमारे देशमें कहा जाता है कि युद्धमें भी धर्मकी रक्षा करनी होगी—अस्त्रहीन, भागे हुए और शरणमें आये हुए शत्रुके प्रति हमारे देशके क्षत्रियोंको जैसा बरताव करनेकी विधि है उसकी यूरोपमें हँसी उड़ाई जायगी। इसका कारण केवल यही है कि हम लोगोंने धर्मको हृदयकी चीज बनाना चाहा था। हम लोगोंके धर्मकी रचना स्वार्थके स्वाभाविक नियमने नहीं की है। धर्मके नियमने ही स्वार्थको संयत कर रखनेकी चेष्टा की है। इसीसे यद्यपि हम लोग बाहरी विषयोंमें दुर्बल होते हैं—यद्यपि

बाहरी शत्रुओंके सामने हमारी हार होती है, तथापि हम लोगोंने स्वार्थ और सुभीतेके ऊपर धर्मके आदर्शको विजयी बनानेकी चेष्टामें जो गौरव पाया है वह कभी व्यर्थ नहीं जायगा—एक दिन उसका भी दिन आवेगा।
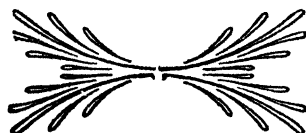
# देसी रजवाड़े ।

देश और विदेशके सभी लोग कहते हैं कि भारतवर्षके देसी राज्य पिछड़े जाते हैं। इस बातको सभी स्वीकार करेंगे कि जगत्की उन्नतिकी दौड़में पिछड़ जाना अच्छा नहीं; किन्तु उसके साथ ही यह बात विचारणीय है कि आगे बढ़नेके सभी उपाय समान रूपसे उपकारी नहीं हैं। अपनी शक्तिके द्वारा अग्रसर होना ही यथार्थ आगे बढ़ना है—उसमें यदि धीमी गति हो तो वह भी अच्छा है। दूसरे आदमीकी गोदमें या पीठ पर चढ़कर आगे बढ़नेमें कोई गौरव नहीं है—क्यों कि चलनेकी शक्ति पाना ही यथार्थ लाभ है; केवल किसी तरह आगे बढ़नेमें ही कोई फायदा नहीं। यह सच है कि हम ब्रिटिश-राज्यमें आगे बढ़े हैं; परन्तु उसमें हमारी खूबी कितनी है! उसके शासनकी और रक्षाकी विधिव्यवस्था, अर्थात् राज्यप्रबन्ध, कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर वह वास्तवमें हमारा नहीं है। हमको स्मरण रखना चाहिए कि भूलचूक हानि कष्ट आदिके बीच होकर ही मनुष्य पूर्णताके मार्गमें आगे बढ़ता है। परन्तु ब्रिटिश-राज्यको इतना धैर्य नहीं है कि वह हमको भूल करने दे। इसी कारण वे लोग हमको भिक्षा दे सकते हैं, शिक्षा नहीं दे सकते। उन लोगोंका जो अपना है उसके उपयोगका सुभीता वे हमें दे सकते हैं; परन्तु उसका स्वत्वाधिकार नहीं दे सकते। मान लो कि कलकत्ता-म्युनिसिपालिटीके पहलेके कमि-

शनर लोग नगर-सम्बन्धी कार्य्योंमें स्वाधीनता पाकर उसके संपादनमें यथेष्ट योग्यता नहीं दिखा सके, इसी अपराधसे अधीर होकर सरकारने उनकी वह स्वाधीनता छीन ली। संभव है कि इस समय कलकत्तेका नगर-सम्बन्धी कार्य्य पहलेकी अपेक्षा अच्छी तरह चलता हो; किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि यों " अच्छी तरह चलना " ही सबसे अच्छा है। मेरी समझमें तो यदि हमारी अपनी शक्तिसे अबकी अपेक्षा खराब काम चले, तो भी वही हमारे लिए अच्छा होगा। हम लोग गरीब हैं और बहुतसी बातोंमें, इसी कारण, असमर्थ या नालायक हैं। हमारे देशके विश्वविद्यालयोंका शिक्षा-कार्य्य धनी और ज्ञानी विलायती विश्वविद्यालयोंसे तुलना करने योग्य नहीं; इस कारण यदि राजा यहाँके शिक्षाविभागमें देसी लोगोंके अधिकार घटाकर अपने जोरसे केम्ब्रिज और आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटीकी नकली प्रतिमा गढ़कर खड़ी कर दे तो उससे हमारा क्या उपकार होगा? हम लोग यदि गरीबके लायक अपना एक विद्यालय आप स्थापित कर सकें तो वही हमारी सम्पत्ति होगा। जो 'अच्छा' हमारे हाथमें नहीं है उसे अपना समझना ही मनुष्यके लिए भारी आफत है। कुछ दिन हुए, एक बंगाली डिपुटी मजिस्ट्रेट देसी रजवाड़ोंके शासन-प्रबन्धकी बड़ी निन्दा कर रहे थे। उस समय मुझे स्पष्ट देख पड़ा कि वह समझते हैं कि ब्रिटिश राज्य-शासनकी सारी सुव्यवस्था मानों सब उन्हींकी की हुई व्यवस्था है। यदि वे यह समझते कि मैं तो एक साधारण बोझा ढोनेवाला कुली हूँ; मैं यन्त्र चलानेवाला नहीं, बल्कि उस यन्त्र-समूहका एक छोटासा अङ्ग हूँ, तो कभी इस तरह शेखीके साथ देसी रजवाड़ोंके प्रबन्धकी निन्दा न कर सकते। इस सत्यको ठीक तरह समझ लेना हमारे लिए कठिन होगया है कि ब्रिटिश-राज्यमे हमको

जो मिलता है वह हमारा नहीं है। इसी कारण हमलोग राजासे नित नये अधिकारोंकी लगातार प्रार्थना करते हैं। यह हम भूल जाते हैं कि अधिकार पाना और अधिकारी होना एक ही बात नहीं है।

देसी रजवाड़ोंके शासनमें भूलचूक और उनकी धीमी चाल होने पर भी उसमें सन्तोषकी बात यही है कि उससे जो लाभ होता है वह वास्तवमें हमारा निजका लाभ है। वह दूसरेके कन्धे पर चढ़कर चलनेका लाभ नहीं, अपने पैरों चलनेका लाभ है। इसी कारण मुझसे अपने बंगालके इस छोटेसे त्रिपुरा (टिपरा) राज्य पर उत्सुक दृष्टि डाले बिना नहीं रहा जाता। यही कारण है कि यहाँकी राज्य-व्यवस्थामें मुझे जब कोई कमी या विघ्न-बाधा देख पड़ती है तब उसे मैं सारे बंगालका अभाग्य समझता हूँ। इसीसे त्रिपुराके राज्यशासनमें यदि कोई असम्पूर्णता या प्रबन्धमे त्रुटि देखता हूँ तो शेखीके साथ उसकी आलोचना करनेको जी नहीं चाहता; मेरा सिर नीचा होजाता है। इसी कारण, यदि मुझे माळूम होता है कि तुच्छ स्वार्थपरता (खुदगरजी) अपने साधारण लाभके लिए—वर्त्तमान जरासी सुविधाके लिए, राजलक्ष्मीके मन्दिरकी नींव हिला देनेमें भी नहीं हिचकती, तब उस अपराधको एक छोटेसे राज्यकी साधारण घटनामात्र मानकर मुझसे निश्चिन्त नहीं रहा जाता। इन देसी रजवाड़ोंकी लाजको ही यदि हम अपना यथार्थ गौरव नहीं समझते तो देशके सम्बन्धमें हमने कुछ भी नहीं जाना।

पहले ही कहा जा चुका है कि भारतकी प्रकृतिको शक्तिके द्वारा सबल बना ले सकने पर ही हम सच्ची उन्नति प्राप्त करनेकी आशा कर सकेंगे। ब्रिटिश-सरकार, इच्छा करने पर भी, इस विषयमें हम लोगोंकी सहायता नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि ब्रिटिशजाति

अपनी महिमाको ही केवल महिमा समझती है। इसीसे वे लोग अच्छे मनसे भी जो शिक्षा हमको देते हैं उस शिक्षाको पाकर हम अपने देश-पर घृणा करना सीखते हैं। हम लोगोंमें जो लोग पेट्रियट या देश-हितैषीके नामसे प्रसिद्ध हैं उनमेंसे कितने ही महाशय इस घृणा करनेवाली मण्डलीके मुखिया हैं। इस प्रकार जो लोग सच्चे भार-तका हृदयसे अनादर करते हैं वे ही भारतको विलायत बनानेके लिए छटपटा रहे हैं। सौभाग्यकी बात यही है कि उनकी यह असम्भव आशा सफल नहीं हो सकेगी।

हमारे देसी रजवाड़े पीछे पड़े रहें या चाहे जो हो, उन्हींमें हम अपने देशके यथार्थ रूपको देखना चाहते हैं। हम यही चाहते हैं कि विकार और अनुकरणकी बीमारी उनमें न घुसने पावे। यह सच है कि ब्रिटिश-सरकार हमारी उन्नति चाहती है; पर वह ब्रिटिश चालसे होनी चाहिए। ऐसी अवस्थामें यह होता है कि कमल-पुष्पकी उन्नति-प्रणालीसे गुलाबकी उन्नति की जाती है। किन्तु मैं यही चाहता हूँ कि ये देसी रजवाड़े, बाधा-रहित स्वाभाविक नियमसे देशकी उन्नतिके उपाय निश्चित करें।

इसका कारण यह नहीं कि हम भारतकी सभ्यताको ही सब सभ्य-ताओंसे श्रेष्ठ समझते हैं। यूरोपकी सभ्यता मनुष्यजातिको जो सम्पत्ति दे रही है उसके अमूल्य होनेके बारेमें सन्देह करना धृष्टताके सिवा और कुछ नहीं है।

अतएव मेरे कहनेका यह मतलब नहीं है कि यूरोपकी सभ्यताको, निकृष्ट मानकर, त्याग देना चाहिए। मेरा मतलब यह है कि वह हम लोगोंके लिए अस्वाभाविक है; इसीसे हमको अपने देशके आदर्श पर ध्यान देना—जी लगाना चाहिए। देसी और यूरोपके, दोनों आद-

शोंकी तुलना करके बहस करनेकी मेरी इच्छा नहीं है; किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि दोनों आदर्श, स्वभावानुसार, मनुष्य-जातिके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं ।

एक दिन यहाँके एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि गवर्नमेन्ट-आर्ट-स्कूलकी गेलरीसे विलायती तसबीरोंका बिक जाना क्या आपकी समझमें अच्छा हुआ ?

मैंने इसके उत्तरमें कहा था कि हाँ, अच्छा ही हुआ । इसका कारण यह नहीं कि विलायती चित्रकला अच्छी चीज नहीं है । बात यह है कि वह चित्रकला इतने कम दामोंमें हाथ नहीं लग सकती । हम अपने देशमें उस विलायती चित्रकलाका आदर्श कहाँ पावेंगे ? यदि कोई विलायतवासी अँगरेज "हिलिमिलि पनिया चली" आदि दो-एक लखनऊकी ठुमरी सुनकर भारतकी सङ्गीत-विद्यामें विज्ञता प्राप्त करना चाहे तो उसके बन्धुओं—इष्टमित्रों—का कर्त्तव्य है कि वे उसे मना करें । विलायती बाजारके कुछ सुलभ सस्ते कूड़ाकरकट, और उसके साथ ही दो एक अच्छे चित्र, आगे रखकर हम चित्रविद्याका यथार्थ आदर्श कैसे पावेंगे ? इस उपायसे हम जो कुछ सीखते हैं वह कितना निकृष्ट है—यह भी ठीक ठीक समझनेका कोई उपाय हमारे देशमें नहीं है । जहाँ किसी चीजका कुछ सिर-पैर नहीं है, केवल कुछ इधर उधरके अस्त-व्यस्त दृष्टान्त मात्र हैं, वहाँ उस चीजका पूर्ण परिचय पानेकी चेष्टा करना कोरी विडम्बना—अपनी हँसी कराना—है । यह अध-कचरी शिक्षा हमारी देखनेकी शक्तिको नष्ट कर देती है । फल यह होता है कि हम औरोंके देशकी अच्छाई तो सीख ही नहीं सकते, उलटे अपने देशकी अच्छाई देखनेकी शक्ति भी गवाँ बैठते हैं ।

हम आर्ट-स्कूलमें भरती हुए हैं; किन्तु यह जानते ही नहीं कि हमारे देशमें शिल्प-कलाका आदर्श क्या है । यदि हम शिक्षाके द्वारा

इस आदर्शका परिचय पाते तो सचमुच एक शक्ति प्राप्त करनेका सुभीता होता। क्योंकि यह शिल्पकलाका आदर्श हमारे देशमें ही है यदि एक बार हमारी आँखें खुल जातीं तो हम इस शिल्पकलाके आदर्शको अपने सारे देशके बीच——थालीमें, लोटेमें, बटलोईमें, टोकरीमें, डलियामें, मन्दिरमे, मठमें, कपड़ेमें, गहनेमें, घरकी दीवारोंमें——अनेक अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे पूर्ण एक समग्र मूर्तिके रूपमें देख पाते; उसकी ओर अपने तत्पर चित्तको लगा सकते; अपने बापदादेकी सम्पत्तिको पाकर उसे व्यवसायकी पूँजी बना सकते।

इसी कारण हमारे शिक्षा प्राप्त करनेकी अवस्थामें विलायती चित्रोंके शौकको जबरदस्ती जड़से उखाड़ डालना अच्छा है। नहीं तो, अपने देशमें क्या है—यह देखनेकी प्रवृत्ति ही न होगी; केवल अनादरकी आँधीमें अन्धे होकर हम अपने घरकी सन्दूकमें रक्खे हुए धनको भी गवाँ बैठेंगे।

मैंने देखा है कि जापानके एक सुप्रसिद्ध चित्रकलाकुशल विद्वान् इस देशके कीड़ोंके खाये हुए कई प्राचीन चित्र देखकर बहुत ही विस्मित और प्रसन्न हुए थे। वह यहाँसे एक चित्र-पट ले गये। जापानके अनेक कदरदानोंने उस चित्रको बहुत अधिक मूल्य देकर खरीदना चाहा; पर वह बेचनेको राजी नहीं हुए।

मैं यह भी देखता हूँ कि यूरोपके बहुतेरे चित्रकलारसिक विद्वान् हमारे देशकी अनेक अप्रसिद्ध दूकानों और बाजारोंमें घूम फिर कर फटे मैले पुराने कागजों पर बने हुए चित्रोंको बहुमूल्य मालकी तरह बड़े यत्नसे खरीदकर ले जाते हैं। वे वही चित्र होते हैं जिनको देखकर हमारे आर्ट-स्कूलके विद्यार्थी नाक सिकोड़ा करते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि जिन्होंने ठीक रीतिसे कलाविद्याको

सीखा है वे विदेशके अपरिचित रीतिसे बने हुए चित्रोंके सौन्दर्यको भी अच्छी तरह देख पाते हैं। उनमें एक प्रकारकी शिल्पदृष्टि पैदा हो जाती है। किन्तु जो लोग केवल नकल करके सीखते हैं उनको उस नकलके सिवा कुछ भी नहीं देख पड़ता।

हम यदि अपने देशकी शिल्पकलाको सम्पूर्ण रूपसे, यथार्थ रूपसे देखना सीखते तो हममें वही शिल्प-ज्ञान पैदा होता जिसकी सहायतासे शिल्प-सौन्दर्य्यके भव्य भवनके सब दरवाजे हमारे सामने खुल जाते। किन्तु विदेशी शिल्पकी निपट अधकचरी शिक्षामें, जिसे हमने नहीं पाया उसको समझते हैं कि पा गये। फल यह होता है कि जो पराई तहबीलमें ही रह गया है उसको अपनी दौलत समझ कर हम घमण्डमें आजाते हैं।

'पिपर लोटी' यह कल्पित नाम देकर लेख लिखनेवाले प्रसिद्ध फरासीसी यात्री जब भारतमें भ्रमण करने आये थे तब वे हमारे देशके राजभवनोंमें विलायती सामानकी भरमार देखकर बहुत ही खिन्न और हताश हुए थे। उन्होंने समझा था कि इस देशके बड़े-बड़े राजा-रजवाड़े भारी अशिक्षा और नासमझीके कारण ही विलायती सामानकी बिलकुल घटिया और रद्दी चीजोंसे घर सजाकर उसीमें अपना गौरव समझते हैं। सच बात तो यह है कि विलायती सामग्रीको ठीक ठीक पहचानना और सीखना विलायतमें ही सर्वथा सम्भव है। वहाँ शिल्पकलामें जान है। वहाँके शिल्पी (कारीगर) नित्य नई तरकीबें निकाला करते हैं। वहाँ उनकी विचित्र शिल्प-पद्धतिका सिलसिलेवार इतिहास है। वहाँके गुणी लोग उस इतिहासकी हरएक पद्धतिसे देश-काल-पात्रका मिलान करना जानते हैं। और हम? हम उसमेंसे कुछ भी नहीं जानते; मूर्ख दूकानदारकी सहायतासे—अर्थात् उसके द्वारा—

बेसिर पैरका निकृष्ट विलायती सामान खरीद खरीदकर घरोंमें ढेर करते हैं और उसके बदले आँख मूँदकर रुपयोंकी थैलियाँ खाली करते जाते हैं। वह सामान कैसा है या क्या है, इस पर विचार करना हमारी शक्तिके बाहर है।

भारतमें जो ये निकृष्ट विलायती असबाबकी दूकानें हैं इन्हें यदि लार्ड कर्जन महाशय जबरदस्ती बन्द कर जाते तो बहुत अच्छा होता। हम लोग फिर लाचार होकर अपने देशकी चीजोंको देखते और उनकी इज्जत करते। तब रुपयेके बलसे चीज खरीदनेकी चाल उठजाती; रुचिकी चर्चा होती। हम किसी रईसके घर जाकर वहाँ दूकानका परिचय न पाते; बल्कि मालिक-मकानके शिल्पज्ञानका परिचय पाते। और, यही हमारे लिए यथार्थ शिक्षा और यथार्थ लाभ होता। हम अपने भीतर और बाहर, अपने स्थापत्य ( थवईगीरी ) और भास्कर्य ( नक्काशी ) में, अपने घरकी दीवारों और बाजारोंमें स्वदेशको पाते।

दुर्भाग्यवश सभी देशोंके नीचे दरजेके लोग अशिक्षित हुआ करते हैं। साधरण अँगरेजोंको शिल्पसम्बन्धी अभिज्ञता नहीं है। इस कारण उनमें स्वदेशीभावका अन्ध-संस्कार इतना प्रबल है कि वे उत्कृष्टता और निकृष्टताकी विवेचना नहीं कर पाते। वे हमसे अपने ही अनुकरणकी प्रत्याशा करते हैं। हमारी बैठकमें अँगरेजी दूकानोंका सामान देखनेसे ही वे खुश होते हैं—तभी वे समझते हैं कि हम लोग उनकी फरमाइशके माफिक बने हुए 'सभ्य-पदार्थ' हो रहे हैं। उन्हींकी अशिक्षित रुचिके अनुसार हमारे देशका प्राचीन शिल्प-सौन्दर्य, आप हटकर, सस्ती और निकृष्ट नकलको जगह दे रहा है। इस देशके शिल्पी भी विदेशी रुपयेके लालचमें पड़कर अन्धेकी तरह विदेशी रीतिकी अजीब नकल कर रहे हैं।

जैसे शिल्पके सम्बन्धमें हो रहा है वैसे ही और सब बातोंमें भी। हम लोग विदेशी प्रणालीको ही एकमात्र प्रणाली समझते हैं। केवल बाहरी चीजोंमें ही नहीं, हम लोगोंके मनमें, यहाँ तक कि हृदयमें भी नकलका विषबीज घुस रहा है। देशके लिए इससे बढ़कर दूसरी विपत्ति हो ही नहीं सकती। इस महाविपत्तिसे छुटकारा पानेके लिए हम एक दृष्टिसे देसी रजवाड़ोंकी ही ओर ताक रहे हैं।

हम यह नहीं कहते कि विदेशी चीजोंको हम लेंगे ही नहीं। लेना तो जरूर ही होगा। किन्तु हम विदेशी चीजोंको देसी ढंगसे लेंगे। दूसरेका अस्त्र खरीदनेमें हम अपना हाथ ही नहीं काट डालेंगे। एकलव्यकी तरह धनुर्विद्याकी गुरुदक्षिणामें अपने दाहिने हाथका अँगूठा नहीं दे देंगे। हमें यह याद रखना ही होगा कि अपनी प्रकृति, अर्थात् स्वभावका उल्लङ्घन करनेसे दुर्बल होजाना होता है। इसमें सन्देह नहीं कि शेरका भोजन बल बढ़ानेवाला होता है; मगर यदि कोई हाथी उसका लोभ करेगा तो वह अवश्य मरेगा। हमलोगोंको लोभमें पड़कर प्रकृतिके विरुद्ध नहीं चलना चाहिए। किन्तु हम अपने धर्मकर्ममें, रंगढगमें अर्थात् भाव-भेष-भोजनमें नित्य वही करते चले जाते हैं। इसीसे हमारे जीवन-मरणकी समस्या दिनपर दिन जटिल होती जाती है। हम प्रकृतिके विरुद्ध चलकर कृतकार्य्य नहीं होते; उलटे बोझसे दबे जाते हैं। सच तो यह है कि जटिलता हमारे देशका स्वाभाविक धर्म नहीं है। सामानकी विरलता ( कमी ), अर्थात् जीवन-यात्राकी सरलता, ही हमारे देशकी अपनी सम्पत्ति है। इसीमें हमारा बल है; हमारा प्राण है; हमारी प्रतिभा है। यदि हम अपनी बैठकोंसे विलायती कारखानोंका भारी जंजाल झाड़ूसे न बुहार फेकेंगे तो दोनों ही ओरसे मरेंगे। अर्थात् विलायती कारखाने भी यहाँ नहीं चलेंगे, और बैठकें भी हमारे बैठने या रहनेके लायक न रह जायँगी।

हमारे दुर्भाग्यके कारण इन विलायती कारखानोंकी धुआँ और धूलसे भरी हुई गंदी हवा देसी रजवाड़ोंमें भी पहुँच गई है। उसने सहजको अकारण जटिल बना दिया है। उसके कारण हमारा घर ही हमारे लिए विदेश बन रहा है। हमारे देशके जो महाशय अँगरेजोंके हाथों आदमी बने हैं अर्थात् सभ्य हुए हैं, वे यह कभी सोच ही नहीं सकते कि अँगरेजोंकी चीजको लेना अगर आवश्यक ही हो तो उसे यदि हम अपने ढंग पर न लेंगे तो उससे भलाईके बदले बुराई ही होगी। अपने ढंग पर लेने या अपनानेका केवल यही एक उपाय है कि उसको अपनी प्रकृतिके अनुकूल बना लेना—उसको ज्योंका त्यों न रखना। हमारा भोजन अगर जैसेका तैसा ही पेटमें बना रह जाय तो उससे पुष्टि होना या बल बढ़ना तो दूर रहे, उलटे अजीर्ण रोग पैदा हो जाता है। भोजन, जब अपने असली रूपको, छोड़कर खून बनकर, हमारे शरीरमें मिल जाता है—और जो मिलनेकी चीज नहीं वह 'मल' होकर निकल जाती है तभी उससे हमारे प्राणोंकी रक्षा हो सकती है। इसी प्रकार, विलायती सामग्री भी जब हमारे हृदयसे मिल जाय तभी उससे हम लाभ उठा सकते हैं। जबतक उसमें तीव्र विदेशीपन बना रहेगा तबतक वह हमको लाभ न पहुँचाकर हमारी हानि ही करेगी।

किन्तु विलायती सरस्वती ( अँगरेजी ) के उपासक अथवा गोद-लिये लड़के इस बातको किसी तरह समझ ही नहीं सकते, पुष्टिकी ओर उनकी दृष्टि नहीं है; वे लादनेको ही परमार्थ समझे बैठे हैं। यही कारण है कि हमारे देसी रजवाड़े भी विदेशी चालचलन और शौकीनीके असङ्गत और अनावश्यक भारी जंजालके जालमें अकारण ही अपनी शक्तिको उलझा रहे हैं। विदेशी बोझको यदि हम अना-

यास ही, सहजमें, ग्रहण कर सकते; यदि, वह हमको बोझसा न दिखाई देता; रजवाड़े अगर एक तरहके आफिस-मात्र बन जानेकी चेष्टामें हरदम सिरतोड़ प्रयत्न न करते; और, जिसका हमारे सजीव अन्तःकरणसे सन्बन्ध था उसे अब कलके नलसे जोड़नेकी—हमतक पहुँचानेकी—चेष्टा न होती; तो आपत्ति करनेकी कोई बात न थी।

हमारे रजवाड़े क्लर्कोंसे चलनेवाले कम्पनियोंके कारखाने नहीं हैं—भूल और विकारसे रहित कलके एंजिन नहीं हैं—उनके प्रजाके साथ जो सम्बन्ध-सूत्र हैं वे लोहेकी जंजीरें नहीं हैं, वे हृदयकी रगें हैं—जब जब वे नसें सूखने लगती हैं तब तब राजलक्ष्मी रस सींचती है, कठिनको कोमल बनाती है, तुच्छको सौन्दर्यसे मढ़ देती है, देन लेनके मामलेको कल्याणकी कान्तिसे उज्ज्वल बना देती है और भूल-चूकको क्षमाके अश्रुजलसे धो देती है—माफ कर देती है।

हम ईश्वरसे यही प्रार्थना करते हैं कि हमारा अभाग्य हमारे इन देसी रजवाड़ोंको विदेशी आफिसके साँचेमें ढालकर उन्हें एक मेशीन न, बना डाले। इन्हीं रजवाड़ोंमें हम लोग स्वदेशलक्ष्मीके स्तन्य-सिक्त स्निग्ध हृदयका सजीव और कोमल स्पर्श पा सकते हैं। हम चाहते हैं कि इन्हीं रजवाड़ोंके भीतर देशकी भाषा, देशका साहित्य, देशका शिल्प, देशकी रुचि और कान्ति माताकी गोदमें आश्रय पावें और देशकी शक्ति, मेघ-मुक्त पूर्ण चन्द्रमाकी तरह, अपनेको, अत्यन्त सहज और अत्यन्त सुन्दर भावसे प्रकाशित कर सके।
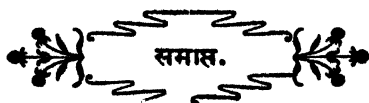
## हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर-सीरीजके ग्रन्थोंकी

# समालोचनाओंका सार ।

## स्वाधीनता ।

'लिबर्टी' का अनुवाद और जॉन स्टुअर्ट मिलका जीवनचरित ।

अनुवादक, पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी । मू० २)

—स्वाधीनता पर मिलका यह निबन्ध जगत्में प्रसिद्ध हुआ है । इसमें विचार-स्वातंत्र्यकी यौक्तिकता व आवश्यकता अखण्डनीय प्रमाणोंसे सिद्ध की है । ... यह अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है । **भारतमित्र ।**

—इस पुस्तकके पढ़नेसे लोगोंकी आँखें खुलेंगी और वे समझेंगे कि सब प्रकारकी स्वाधीनता कैसी होती है । **—श्रीव्येंकटेश्वर समाचार ।**

—आर्य भाषाके प्रत्येक प्रेमीको इस पुस्तकका संग्रह करना चाहिए । **प्रचा०**

—हमें यह आशा नहीं है कि हिन्दीमें ऐसी पुस्तक छपेगी जो इसकी समता कर सके । **—शिक्षा ।**

—यह ग्रन्थ मनन करने योग्य है और इसके प्रकाशित होनेसे नागरीसाहित्यके भण्डारमें एक अमूल्य रत्नका संचय हुआ है । **—नागरीप्रचारक ।**

—दास्यपंकमें लोटते हुए भारतवासियोंके लिए स्वाधीनताके समान ग्रन्थके परिशीलनकी बड़ी आवश्यकता है । **—चित्रमय जगत् ।**

---

## प्रतिभा ।

अनुवादक, श्रीयुत नाथूराम प्रेमी । मू० १)

—यह मनुष्यके चरित्रको उदार उन्नत और कार्यक्षम बनानेवाला सच्चा उपदेशक है । लेखकने चरित्रचित्रणके साथ साथ इसमें भारतकी वर्तमान अवस्थाका और उसकी वर्तमान आवश्यकताओंका बहुत ही मार्मिक पद्धतिसे विवेचन किया है । इसकी भाषा भी मनोहारिणी है । **—सरस्वती ।**

—उपन्यास अच्छा और शिक्षाप्रद है । **—भारतमित्र ।**

--प्रतिभा सचमुच यथा नाम तथा गुणवाली है। मैने इतनी मधुर और चित्ताकर्षक भाषा इसके पहले किसी पुस्तकमें नहीं पढ़ी।

**—सय्यद् अमीर अली ( मीर )।**

--भारतमें जो नया भाव, नयी ज्योति और नई आकांक्षाका आविर्भाव हुआ है, उसकी लहर, उसके प्रकाश और उसके साधनसे यह उपन्यास शराबोर है। अच्छे अच्छे और समयानुकूल विचार इसमें भरे पड़े हैं।

**—श्रीव्येंकटेश्वर समाचार।**

--ऐसा भावपूर्ण और शिक्षाप्रद उपन्यास शायद ही कभी पहले हमारे सन्मुख आया हो। प्रतिभाका चरित्र भारतीय रमणियोंके लिए आदर्शस्वरूप है। लेखकने मनुष्यके मनोभावोंको पहचाननेमें प्रशंसनीय कौशल दिखलाया है। भाषा इसकी बहुत ललित है। **—अभ्युदय।**

—यह ग्रन्थ उपन्यास नहीं है, नीतिका उत्तम ग्रन्थ है, समाजका प्रस्फुटित चित्र है, और उपदेशोंका उत्तम संग्रह है। इस ग्रन्थसे नागरी साहित्यका बड़ा उपकार हुआ है। **—नागरीप्रचारक।**

---

## फूलोंका गुच्छा।

सुन्दर सुन्दर ११ गल्पोका संग्रह। मू० ॥=)

—इसकी कहानियाँ मनोरंजक, रोचक, चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद हैं। कई कहानियोंमें ऐसी मर्मभेदी बातें हैं कि जिन्हें पढ़नेसे मनुष्यको अपना हृदय टटोलनेकी आकांक्षा उत्पन्न होती है। कहीं कहीं इस गुच्छेमें निर्मल निर्दोष आनन्दकी बड़ी मजेदार खुशबू है। **—श्रीव्येंकटेश्वर समाचार।**

—गुच्छेकी कोई कोई गल्प तो बहुत ही चित्ताकर्षक है। और पुष्पगुच्छ तो मुरझा जाते हैं पर इसके मुरझानेका डर नहीं। **—कविवर मैथिलीशरण।**

—इस गुच्छको पढ़कर पाठकोंका चित्त प्रसन्न होगा और इसके नैतिक उपदेशोंसे वे लाभ उठायेंगे। **—नागरीप्रचारक।**

भाषा सरल और शुद्ध हिन्दी है। कहानियाँ हृदयाकर्षक और निर्दोष हैं। औपन्यासिक साहित्यके प्रेमियोंको इसे अवश्य पढना चाहिए। **—सरस्वती।**

—आख्यायिकायें सबकी सब अच्छी और मनोहारिणी हैं। **—मनोरंजन।**

---

## आँखकी किरकिरी।

सवा लाख रुपयेका पारितोषिक ( नोवेल प्राइज ) प्राप्त करनेवाले कविसम्राट् डा० रवीन्द्रनाथके प्रसिद्ध उपन्यासका अनुवाद।

अनुवादक, पं० रूपनारायण पाण्डेय। मूल्य १॥)

—यह उपन्यास बहुत ही मनोरंजक और सुशिक्षादायक है। समाजके एक अंशविशेषका इसमें जीता जागता चित्र है। "हिन्दीमें इसकी जोडका एक भी उपन्यास नहीं। इसमे मनुष्यके स्वाभाविक भावोंके चित्र खीच कर उनके द्वारा मित्रकी तरह–आत्माकी तरह शिक्षा दी गई है। इसमें भावोंके उत्थान–पतन और उनकी विकाशशैली वर्षामें पहाड़ों परसे गिरते हुए झरनोंकी तरह बहुत ही मनोहारिणी है। हृदयके स्वाभाविक उद्गार, छोटी छोटी घटनाओंका बड़ी बड़ी घटनाओंके बीच हो जाना और उनके चकित कर देनेवाले परिणाम बड़े ही स्पृहणीय हैं।" **—सरस्वती।**

---

## चौबेका चिट्ठा।

स्वर्गीय बाबू बंकिमचन्द्रके 'कमलाकान्तेर दफ्तर' का अनुवाद।

अनुवादक– पं० रूपनारायण पाण्डेय। मू० ॥≈)

—मूलग्रन्थ जैसा प्रतिभापूर्ण है, वैसा ही उत्तम अनुवाद भी हुआ है। कल्पनाशक्तिका अच्छा उपयोग किया गया है–हास्यरसमय और विनोदपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्यका एक रत्न समझा जायगा और रसिक विद्वान् इसे चावसे पढ़ेंगे। **—रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी. ए.।**

—बंकिम बाबूने बडी खूबीसे इसमें सामाजिक बुराइया दिखाई है। कहीं कहीं हास्यरसका विलक्षण मिश्रण भी उन्होंने किया है। अनुवादक महाशयने मूलकी खूबियोंकी रक्षा योग्यतापूर्वक की है। भाषा सरल और शुद्ध है। पुस्तक बड़ी मनोरंजक है और साथ ही शिक्षादायक भी है। **—सरस्वती।**

—चौबेका चिट्ठा जैसा चित्ताकर्षक है वैसा ही उपयोगी भी है। इसमें सरलता और उपदेश दोनों है। पढ़नेसे देश और समाजविषयक अनुभव बढ़ता

है। इसकी शिक्षायें अप्रत्यक्ष होकर भी बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी है और यही उसकी महत्ता है। पुस्तक सर्वथा आदरणीय है। —मैथिलीशरण गुप्त।

—इस ग्रन्थमें लेखकने चिदानन्द चौबेका रूप धारण करके भिन्नभिन्न विषयों-पर अपने आन्तरिक भाव प्रकट किये हैं। ईश्वर, प्रकृति, मृत्यु जैसे जटिल विषयोंसे लेकर भारतकी राजनीति, अदालतोंकी जिरह आदि हलके विषयों तककी मनोरंजक व्याख्या इस ग्रन्थमें की गई है; पर वस्तुतः यह एक तरहका गंभीर हास्यरसपूर्ण काव्य है। बंकिम उपन्यास लेखक था, कवि था, दार्शनिक था और विनोदपूर्ण लेखकोंके लिखनेमें भी सिद्धहस्त था। इस ग्रन्थमें वह अपने सभी रूपोंमें प्रकट हुआ है। —सद्धर्मप्रचारक।

---

## मितव्ययिता।

डॉ. सेमुएल स्माइल्स साहबके 'थिरिफ्ट' का हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीय, बी. ए.।

—बड़ी अच्छी पुस्तक है। हिन्दी साहित्यमें इसे एक रत्न समझना चाहिए। अच्छी छपी है। सुन्दर जिल्द बंधी हुई है। इस पुस्तकका सार यह है कि मनुष्य अपनी शक्ति, अपने श्रम, अपने उद्योग और अपने धनको स्वार्थपरता और वासनाओंकी तुष्टिमें न लगाकर अच्छे कामोंमें लगावे। इसके लिए आलस, अविचार, अहंकार, अविवेक, असंयम आदि अनेक अरियोंका सामना करना पड़ता है। इनमेंसे असंयम सबसे बुरा और बड़ा शत्रु है। इस पुस्तकमें इन सब शत्रुओं पर विजय पानेके सैकड़ों उपाय बतलाये गये है। अतएव यह सर्वथा उपादेय है। भाषा भी इसकी अच्छी है; क्लिष्ट नही।—सरस्वती।

—मितव्ययिता प्रत्येक गृहस्थको पढ़नी चाहिए। यही नहीं, उसके सिद्धान्तोंसे लाभ भी उठाना चाहिए। वह इसी योग्य है। उसके वाक्य सोनेके अक्षरोंमें लिखे जाने योग्य हैं। —मैथिलीशरण गुप्त।

—यह पुस्तक सभीके लिए बड़ी उपयोगी है। पाठ्यपुस्तकोंमें इसे अवश्य शामिल करना चाहिए। —श्रीवेंकटेश्वर समाचार।

---